डॉ० हर्षनारायण



दयानन्दः एक पुनर्विश्लेषण

प्रकाशक :

अखिल भारतीय संस्कृत–परिषद्

देववाणी भवनम्, अलीगंज, लखनऊ

दयानन्द : एक पुनर्विश्लेषण

डॉ. हर्षनारायण

प्रकाशक :
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
देववाणी–भवनम्, अलीगंज
लखनऊ

प्रकाशक :
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
देववाणी–भवनम्, सेक्टर–बी,
अलीगंज, लखनऊ–226 024
फोन : 2333962, 4045295

वर्ष : 2010

मूल्य : 90/-

मुद्रक :
पनार आफसेट
'इन्द्रा अनुष्ठान'
गुईन रोड, अमीनाबाद
लखनऊ–226 018
फोन : 6537957, 9335916848

सुपुत्री डॉ. मुक्तावली को

प्रकाशकीय

प्रस्तुत प्रबन्ध में दस अध्याय हैं—अध्याय 1. विचार बदलते रहे, अध्याय 2. मांसाहार हिचकिचाहट, अध्याय 3. खूगरे हम्द से थोड़ी सी शिकायत सुन लें, अध्याय 4. अभिनव वेद—भाष्य, अध्याय 5. मूढग्राह का ग्राह, अध्याय 6. शक्तिपात, अध्याय 7. आक्रामक हिन्दुत्व, अध्याय 8. तुलनात्मक धर्मधारा, अध्याय 9. मूर्ति की माया और अध्याय 10. राष्ट्र—संकट की संवेदना। परिशिष्ट के रूप में आर्य—सन्मार्गसन्दर्शिनी सभा, कलकत्ता का परिचय भी दे दिया गया है।

प्रथम अध्याय में विद्वान् लेखक ने यह स्वीकार किया है कि स्वामी दयानन्द जी की कोई अच्छी जीवनी तैयार नहीं हो सकी है। इसी प्रसंग में दस जीवनियों का उल्लेख किया गया है। द्वितीय अध्याय में विद्वान् लेखक का मत है कि स्वामी जी मांस—भक्षण के विषय में प्रायः अन्त तक दोलायमान रहे थे। उनके वेद—भाष्य में यत्र—तत्र मांस—भक्षण का विधान था, जिसे उन्होंने बाद में निकाल दिया था। विद्वान् लेखक के अनुसार दयानन्द का सबसे बड़ा दोष, जो वस्तुतः उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ था वह था उनके द्वारा वेद—भाष्य में अपनायी गयी लालबुझक्कड़ी शैली। यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि उनका वेद—भाष्य कई अंशों में लालबुझक्कड़ भाष्य कहा जा सकता है। विद्वान् लेखक के शब्दों में 'दयानन्द का कृष्णपक्ष अमर्यादित नहीं है'। उनके व्यक्तित्व का शुक्ल पक्ष बहुत ही मोहक है।' 'अभिनव वेदभाष्य' नामक चतुर्थ अध्याय में लेखक का अभिमत है कि स्वामी जी की वेद—विषयक अनेक मान्यतायें नवीन हैं और परम्परा द्वारा असमर्थित हैं। अध्याय—5 का शीर्षक है 'मूढग्राह का ग्राह'। इस अध्याय में लेखक ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि राममोहन राय के बाद दयानन्द का अवतार होता है। 'यह गुजराती ब्राह्मण विलक्षण व्यक्तित्व का धनी था। अंग्रेजी तो दूर, मातृभाषा और संस्कृत के अतिरिक्त कोई भाषा नहीं जानता था, हिन्दी बाद में सीखी किन्तु उनके सुधारवादी अभियान ने भारत में एक भूकम्प ला दिया था।' 'शक्तिपात' नामक छठे अध्याय में विद्वान् लेखक का अभिमत है कि 'हिन्दू जाति की समन्वय दृष्टि और सर्वङ्ग्राहक प्रवृत्ति का बहुत विरुद गान किया गया है, किन्तु

यह दृष्टि अथवा यह प्रवृत्ति कितनी स्वस्थ है इस पर बहुत कम विचार हुआ है। सप्तम अध्याय में 'आक्रामक हिन्दुत्व' के सम्बन्ध में विचार करते हुए अपना मत दिया है कि हिन्दू धर्म की गणना एक शक्तिस्थापक, अगतिशील (Passive) धर्म के रूप में होती है। 'तुलनात्मक धर्म–धारा' अष्टम अध्याय का विवेच्य है। लेखक का कथन है कि दयानन्द प्रथम हिन्दू दिखायी देते हैं जिन्होंने हठयोग साहित्य में उल्लिखित नाडी–विज्ञान की जाँच के लिए एक मुर्दे की चीर–फाड़ की और प्रयोग से उक्त विज्ञान के भ्रामक सिद्ध होने पर तत्सम्बन्धी पुस्तकों को नदी में प्रवाहित कर दिया। 'मूर्ति की माया' शीर्षक नवम अध्याय में विद्वान् लेखक ने यह स्वीकार करने में संकोच नहीं किया है कि काशी के पण्डित दयानन्द को चुनौती इस लिए नहीं दे सके क्योंकि उन्होनें वेद का स्वाध्याय उस प्रकार किया ही नहीं था जिस प्रकार व्याकरण, न्याय आदि का। दशम अध्याय का विषय है 'राष्ट्र–संकट की संवेदना'। इस अध्याय का समापन करते हुए विद्वान् लेखक का कथन है कि अन्त में हम अपने समसामयिकों से जोरदार अपील करके अपनी बात समाप्त करेंगें। वे दयानन्द जैसी विलक्षण प्रतिभा के योगदान का पुनर्मूल्याङ्कन करते हुए आधुनिक भारत के नवनिर्माण में उनसे प्रेरणा ग्रहण करने का उपक्रम करें। परिशिष्ट के रूप में आर्य सन्मार्ग–सन्दर्शिनी सभा, कलकत्ता का संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है।

स्व० डा० हर्ष नारायण जी ने दयानन्द जी का जो पुनर्विश्लेषण प्रस्तुत किया है उससे यह स्पष्ट हे कि विद्वान् लेखक में उचित–अनुचित और ग्राह्य–त्याज्य का विवेक अनुकरणीय है। उनकी लेखनी से संस्कृत साहित्य को और भी अनेक बहुमूल्य रचनाओं की आशा थी। दैवदुर्विपाक से वह असमय कालकवलित हो गये। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह उनकी आत्मा को सद्गति प्रदान करे।

अशोक कुमार कालिया
मन्त्री

परिचायन

लेखक की अन्य कृतियाँ

1. Evolution of Dialectic in Western Thought
2. Srr-i -Akbar Sahita Upaniṣat - Samuçcaya. Vol. I
3. Evolution of the Nyāya- Vaiśeṣika Categoriology, Vol. I
4. Discovery of Marx.
5. Facets of Indian Religion-Philosophic Identity.
6. भारतीय सेक्युलरवाद पर पुनर्विचार।
7. सम्मिश्र संस्कृति और सर्वधर्मसमता के प्रवाद।
8. Myth of Composite Culture and Unity of Religions
9. The Madhyamika Mind

दयानन्द : एक पुनर्विश्लेषण

अध्याय – 1

विचार बदलते रहे

दयानन्द एक प्रायः उपेक्षित शलाका पुरुष का नाम है। उन्होंने सब कुछ हिन्दी और संस्कृत के माध्यम से दिया था और उनके अनुयायियों में भी अंग्रेजी में अथवा हिन्दी में भी अथवा हिन्दी में भी लिखने वाली किसी प्रथम श्रेणी की प्रतिभा का उदय नहीं हुआ, जिसके फलस्वरूप उन्हें वह प्रसिद्धि नहीं प्राप्त हुई जिसके वे अधिकारी हैं। उनके अनुयायी 'महर्षि' 'महर्षि' की उबाऊ रट लगा उनके प्रति प्रयुक्त ऐसे विरुदों के विरूद्ध दी हुई चेतावनी की उपेक्षा करते ही हैं, गुरूडम का प्रचार कर उनका मिशन मिट्टी में मिला देते हैं।

उनकी कोई अच्छी जीवनी भी तो तैयार नहीं हो सकी। उनकी जीवनी के नाम पर जो कुछ प्रमुख रूप से प्रकाश में आया है वह इस प्रकार है :–

1. उनकी ***आत्मकथा*** जो मात्र दस-बारह पृष्ठों में समाप्त हो जाती है और उनके अत्यारम्भिक जीवन से सम्बन्ध रखती है।
2. ***दयानन्द-दिग्विजयार्क***, जो स्वामी जी के जीवनकाल में ही लिखी गयी थी।
3. देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय द्वारा बंगला में संगृहीत और दो भागों में प्रकाशित ***"दयानन्द–चरित"*** (1894)
4. लेखाराम द्वारा सङ्गृहीत और मास्टर आत्माराम अमृतसरी द्वारा सम्पादित ***महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र यानी सबानेह उमरी*** (लाहौर, 1897)
5. लक्ष्मण कृत 1200 पृष्ठ का उर्दू जीवन चरित, ***"मुकम्मल जीवन चरित्र महर्षि दयानन्द"***।
6. बाबा छज्जू सिंह, ***"लाइफ एण्ड टीचिंग्स आफ स्वामी दयानन्द सरस्वती"*** (लाहौर, 1903)
7. देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय द्वारा बंगला में संगृहीत सामग्री के आधार पर घासीराम द्वारा लिखित ***"महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र"***, 2 भाग (1933)
8. हरविलास सारदा कृत *आर्य धर्मेन्द्र जीवन* और *"लाइफ आफ दयानन्द सरस्वती"* (1946)

9. सत्यानन्द कृत *दयानन्द प्रकाश*।

10. भवानीलाल भारतीय कृत *"नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती"* (1983)

11. सत्यकेतु विद्यालंकार और हरिदत्त वेदालंकार आदि कृत *"आर्य समाज का इतिहास"*, प्रथम भाग

12. जे. टी. एफ. जार्डेन कृत ***"Dayānanda Saraswatī — His Life and Ideas"*** (1978)

इनमें से कोई भी जीवनी दयानन्द के अनुरूप नहीं बन सकी है। उनमें समालोचना-दृष्टि का सर्वथा अभाव है। "स्वामी जी ने उन्हें विष मिलाने वाले जगन्नाथ को रुपयों की थैली प्रदान कर भगा दिया और इस प्रकार अपनी अद्‌भुत क्षमाशीलता का परिचय दिया", इसका डिण्डिम घोष करने वाले जीवनीकार भूल जाते हैं कि यह घटना स्वामी जी के सिद्धान्त और स्वभाव के ठीक विपरीत पड़ने से झूठी है। वे जानना नहीं चाहते कि स्वामी जी एक ठीक ऐसी ही विषदान की घटना के सम्बन्ध में अपने पत्र दिनांकित चैत्र दि. 5 बुधवार, संवत् 1939 वि., में लिखते हैं, "यदि बद्री ब्राह्मण का विष देने का कर्म प्रसिद्ध हो गया है तो उसको जेलखाने में भेज दिया या नहीं। ठीक सबूती हो तो उसको अवश्य जेलखाने में भिजवा देना चाहिए, जिससे दूसरा कोई ब्राह्मण ऐसे काम करने की इच्छा न करे।"[1] वस्तुतः स्वामी जी का सिद्धान्त ही था कि पाप को ईश्वर भी क्षमा नहीं कर सकता। इन जीवनियों की सबसे बड़ी कमी यह है कि ये दयानन्द के विचारों के विकास का सम्यक् सर्वेक्षण नहीं करती हैं। काशी शास्त्रार्थ वाले दयानन्द सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय संस्करण (1884) वाले दयानन्द से कितने भिन्न हैं इसका ठीक-ठीक अनुमान इन जीवनीकारों को शायद ही रहा हो। केवल उक्त अन्तिम जीवनीकारद्वय किसी सीमा तक अपवाद माने जा सकते हैं।

प्रचलित प्रवाद के अनुसार शिवलिंग पर चढ़ाये गये चावल आदि का चूहों द्वारा भक्षण देखकर स्वामी दयानन्द ने बाल्यावस्था में ही मूर्ति पूजा का त्याग कर दिया था, किन्तु हम देखते हैं कि वे विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त कर चुकने के कुछ काल बाद तक मूर्तिपूजक बने रहे। कहते हैं कि उन्होंने उस काल में जयपुर में वैष्णव धर्म का खण्डन और शैव धर्म का मण्डन किया था और सहस्रों रुद्राक्ष-मालायें बाँटी थीं। वहाँ इनका इतना प्रभाव पड़ा कि लोगों ने अपने हाथियों और घोड़ों तक को रुद्राक्ष की मालायें पहनायी थीं। वस्तुतः विरजानन्द स्वयं मूर्तिपूजक थे। वे नीलकण्ठ और रंगनाथ महादेव के मन्दिरों में भी दर्शनार्थ जाया करते थे और दुर्गासप्तशती का पाठ करते थे। स्वामी दयानन्द के सहपाठी अङ्गद शास्त्री ने स्वामी जी को इसका स्मरण दिलाया था।

देवपूजक तो वे कम से कम काशी शास्त्रार्थ के समय तक बने रहे। तब वे स्वर्गलोक, उसमें देवताओं की सत्ता और उसकी लोक में उपासना की आवश्यकता सब कुछ मानते थे। एतत्सम्बन्धी मान्यताओं में उनके समक्ष उनके प्रधान प्रतिपक्षी स्वामी विशुद्धानन्द ही लड़खड़ाते दिखायी देते हैं। उस शास्त्रार्थ काल में दयानन्द ने कहा था कि वेद में केवल एक स्थान पर "देवप्रतिमा" शब्द प्राप्त होता है और जोड़ा कि वह स्वर्गलोक-सम्बन्धी है– **देवप्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति इत्यादि**। विशुद्धानन्द के किञ्चित् शिविर विपत्ति अथवा संशय प्रकट करने पर दयानन्द ने पूछा था, **'स्वर्गे देवताः सन्ति न वा ?'** विशुद्धानन्द ने कहा, **"मन्त्रमयी देवता"**, अर्थात् देवता विग्रहवान् न होकर मन्त्र रूप हैं। तब दयानन्द ने प्रश्न किया, **"कथमुपासना ?"** अर्थात् फिर उनकी

1. युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन 2, चतुर्थ भाग, पृ. 651

उपासना कैसे होती है। विशुद्धानन्द का उत्तर था, "प्रतीकोपासना"। इस पर सभाध्यक्ष काशीराज की भृकुटि टेढ़ी हो गयी, **"महाराज–भ्रूकुञ्चनम्"**।

आगे चलकर स्वामी जी ने देवपूजा, मूर्तिपूजा, जड़पूजा का धुआँधार खण्डन आरम्भ किया, तथापि वह वर्तमान ***"संस्कार-विधि"*** में एक विचित्र व्यवस्था देते हैं.........जिस तिथि और जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से 4 बार आहुति देनी चाहिए। अर्थात् एक तिथि, दूसरी विधि के देवता, तीसरी नक्षत्र, और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से। अर्थात् तिथि, नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोल करके 4 बार घी की आहुति देवें।[2] इसके अतिरिक्त, उसी ग्रन्थ में शास्त्रों के हवाले से औषधि, क्षुरे, कुल्हाड़ी (स्वधिति) की भी नमस्क्रिया, स्तुति और प्रार्थना की गयी है। जैसे **'ओम् ओषधे ! त्रायस्वैनम्'** (हे ओषधि, इसका त्राण करो), **"ओ विष्णो दंष्ट्रोऽसि"** (हे छुरे, तुम विष्णु की दाढ़ हो), **"ओ शिवो नामासि, स्वधितिः ते पिता, नमस्तेऽस्तु,** मा मा हिंसीः (तुम्हारा नाम शिव है", कुल्हाड़ी तेरा पिता है, तुम्हें नमस्कार है, मत मार, मत मार), **"ओ स्वधिते ! मैनं** हिसीः (हे कुल्हाड़ी इसे मत मार)। ये मन्त्र क्रमशः मन्त्र ब्राह्मण[3], यजुर्वेद[4], मन्त्रब्राह्मण/यजुर्वेद[5] से लिये गये हैं।

वस्तुतः 1867 में पाखण्डखण्डिनी पताका फहराने के समय स्वामी जी **"देवीभागवतपुराण"** को व्यासकृत, शुद्ध और वेदानुकूल मानते थे, और इस पुराण में देवपूजा, मूर्तिपूजा, सब कुछ है ही। अतः तत्कालीन दयानन्द भी परवर्ती दयानन्द से एक बड़ी सीमा तक भिन्न प्रतीत होते हैं।

इस काल में स्वामी जी ***"श्रीमद्‌भागवतपुराण"*** को जाल ग्रन्थ मानते थे। वस्तुतः उन्होंने ***"भागवतखण्डनम्"*** शीर्षक से एक पुस्तिका ही रच डाली थी, जिसमें ***"देवीभागवत"*** का मण्डन और ***"श्रीमद्‌भागवत"*** का खण्डन किया गया है।

किन्तु स्वामी जी ने 1869 में सभी पुराणों को गप्प घोषित कर दिया था।

स्वामी जी ने 20 जुलाई, 1969 को प्रकाशित **"विज्ञापनपत्रम्"** में 21 शास्त्र प्रमाण माने थे, जिनकी तालिका नीचे दी जाती है :–

1 से 4 ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः और अथर्ववेदः। वे लिखते हैं कि इस वेदचतुष्टय में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड पाये जाते हैं। सन्ध्यावन्दन और अवश्मेधादि कर्मकाण्ड हैं, अष्टांगयोग उपासनाकाण्ड है, और निष्कर्मादिः परब्रह्मसाक्षात्कारान्त ज्ञानकाण्ड है।

5 आयुर्वेदः के दो ग्रन्थ चरक और सुश्रुत।

6 धनुर्वेदः

7 गन्धर्ववेदः

---

2. संस्कारविधि, सं. युधिष्ठिर मीमांसक (बहालगढ़ : रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1974). पृ. 78
3. 1.6.5.; 1.6.4
4. 3.63; 1,6,4
5. 4.1

8 अथर्ववेदः

9 शिक्षा वेदस्था

10 कल्पः

11 व्याकरण के दो ग्रन्थ अष्टाध्यायी और व्याकरणमहाभाष्य

12 निरुक्त

13 छन्दः

14 ज्योतिष का ग्रन्थ भृगुसंहिता

15 ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कैवल्य ये बारह उपनिषद्–

16 ब्रह्मसूत्र

17 कात्यायन आदि के सूत्र

18 योगभाष्य

19 वाकोवाक्य नामक तर्क–ग्रन्थ

20 मनुस्मृति

21 महाभारत

इस सूची में ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम तक नहीं है, जिससे इस धारणा को बल मिलता है कि स्वामी जी उस काल में वेद को मन्त्रब्राह्मणात्मक मानते थे।

काशी शास्त्रार्थ इसके बाद मंगलवार 16 नवम्बर 1869 को हुआ था। उसमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि दयानन्द ने ब्राह्मण को ही नहीं कल्पसूत्र को भी स्पष्ट रूप से वेदत्वेन स्वीकार कर लिया था। वस्तुतः 21 ग्रन्थों की उक्त सूची उन्होंने काशी शास्त्रार्थ से कुछ ही दिन पहले बनारस संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल रुडाल्फ हार्नले को अपने हाथ से लिखकर दी थी।[6] सर्वप्रथम ***"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका"*** में ब्राह्मण को वेद से इतर माना गया है। अन्यथा *"संस्कारविधि"* के प्रथम प्रकरण में भी क्वचित् ब्राह्मण के लिए वेद शब्द का प्रयोग किया गया है तथा *"आर्याभिविनय"* के यजुर्मन्त्रों का आरम्भ **"सह नाववतु."** से किया गया है जो *"तैत्तिरीयारण्यक"* का मन्त्र है।

यह भी उल्लेखनीय है कि दयानन्द ने काशी में आर्य विद्यालय की स्थापना करके यह व्यवस्था की थी कि शूद्रों को वेदमन्त्र-भाग नहीं पढ़ाया जायेगा।

इस सम्बन्ध में जो विज्ञापन स्वामी जी ने "कविवचनसुधा" नामक पत्र में 20 जून 1874

---

6. द्रष्टव्य भगवद्दत्त–सम्पादित और युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा परिष्कृत–परवर्धित ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग (तृ. सं., बहालगढ़, रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1980), पृ. 6

को प्रकाशित कराया था वह इस प्रकार का था– "इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब पढ़ेगें वेद पर्यन्त, और शूद्र मन्त्र भाग को छोड़कर सब शास्त्र पढ़ेंगे। हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती।[7]

स्वामी जी ने **"सद्धर्मविचार"** में इस प्रश्न– **"कस्य कस्याधिकारो वेदपाठेऽस्ति ?"** (किस-किस का अधिकार वेदपाठ में है)– के उत्तर में लिखा था– **त्रयाणां वर्णानां साधारणाधिकारोऽस्ति शूद्रस्योपवेदस्य च। व्याकरणपूर्वक एवं सर्वेषां, नान्यथा।**[8] अर्थात् तीन वर्णों का वेदपाठ में अधिकार है, किन्तु शूद्र का केवल उपवेद-पाठ में ही है। **"सत्यार्थप्रकाश"** के वर्तमान संस्करण में भी शूद्र के सन्दर्भ में स्वामी जी के मन में किञ्चित् द्विविधा प्रतीत होती है। वह सुश्रुत का वचन उद्धृत करते हुये अनुवाद करते हैं, "ब्राह्मण तीनों वर्ण– ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य, क्षत्रिय और वैश्य तथा वैश्य तथा वैश्य एक वैश्य वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है। और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्र संहिता छोड़ कर सब शास्त्र पढ़ावें। शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करें। यह मत अनेक आचार्यों का है।"[9]

"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में दयानन्द परमाणुओं और प्रकृति को अनित्य मानते हुये प्रतीत होते हैं, जिन्हें ईश्वर ने **"स्वसामर्थ्यात्"** रचा है। यह इस्लाम की तद्विषयक मान्यता के अनुरूप है। वस्तुतः इसी रूप में आर्य समाज के प्रथम नियम की भाषा इस प्रकार रखी गयी है– "सब सत्य विद्या और पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं। उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।" **"सत्यार्थप्रकाश"** में भी स्वामी जी ने त्रैतवाद, यह सिद्धान्त कि तीन पदार्थ नित्य हैं, से भिन्न मत प्रकट किया है।[10] उन्होंने लिखा है कि सामर्थ्य ही सृष्टि का उपादान कारण है, जो ईश्वर से भिन्न नहीं है किन्तु वही भी नहीं है। इस प्रकार ईश्वर को उपादान कारण मानते हुए सामर्थ्य को उसका गुण माना जा सकता है। अस्तु, यह मत भेदाभेदवाद से अभिन्न है।

वस्तुतः ***"सत्यार्थप्रकाश"*** के उक्त संस्करण, में यह भी सङ्केत है कि देवता और मनुष्य "शिल्पी मात्र हैं, किन्तु ईश्वर अभाव से भाव उत्पन्न करता है।[11] ***"आर्याभिविनय"*** की व्यवस्था में स्वामी जी ने लिखा है कि ईश्वर ही "सब जगत् का अधिष्ठान उपादान निमित्त और साधनादि है।[12] इसी प्रकार उसके द्वितीय प्रकाश के मन्त्र 44 की व्याख्या में उन्होंने लिखा है, "जीव ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए।" उसका द्वितीय संस्करण माघ 1940 वि. में छपा था, किन्तु स्वामी जी के देहावसान के कारण वह निकला बाद में था। उक्त संस्करण में स्वामी जी के उक्त मत संशोधित कर दिये गये थे। मीमांसक जी यह लिखते हैं कि यह किसी को पता नहीं कि उक्त संशोधन स्वामी जी ने किये या मुंशी समर्थदान ने। वस्तुतः मुंशी इन्द्रमणि ने स्वामी जी से सम्बन्ध-विच्छेद के बाद अनन्त **"तत्त्वप्रकाश"** शीर्षक से एक पुस्तक लिखी थी, "स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत का कुछ ठिकाना नहीं है, कभी कुछ कहते हैं और कभी कुछ– अब से दस वर्ष पहले जीव को काल-परिछिन्न और उत्पत्ति वाला जानते थे, जबकि उनकी कौसल और मुरादाबाद में समझाया गया कि जीव की

---

7. सत्यकेतु विद्यालंकार, आर्य समाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 233
8. स्वामी दयानन्द, *सद्धर्मविचार, वेदवाणी,* दयानन्द विशेषांक (5) 40, 3 (जनवरी, 1988) पृ. 22
9. *सत्यार्थप्रकाश,* सं. युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ : रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1972 पृ. 67
10. *सत्यार्थप्रकाश* का प्रथम संस्करण (1874) पृष्ठ 257
11. प्रथम संस्करण (1933 वि.) मन्त्र 32
12. *सत्यार्थप्रकाश,* (प्रथम संस्करण), पृष्ठ 152 और 232

उत्पत्ति मानना वेद और उपनिषद् और सूत्रादि समस्त प्रामाणिक ग्रन्थों के विरुद्ध है....निदान, बहुत समझाने के उपरान्त स्वामी जी ने जीव को अनादि और अन्तरहित माना.....।।"[13] स्वामी श्रद्धानन्द ने इस सम्बन्ध में सफाई देने का प्रयत्न किया है,[14] जो सन्तोषप्रद नहीं है। और तो और, मुंशी समर्थदान ने भी, जिन्हें स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में भाषा आदि सम्बन्धी संशोधन का पूरा अधिकार दे रखा था, स्वामी जी की एक बार इस प्रकार भर्त्सना की थी 'सो कृपा करके प्रथम विचार कर लिया करें तो उपकार विशेष हो।.......थोड़े-थोड़े काल में विचार का बदलना हानिकारक होता है।'[14]

स्वामी जी ***"सत्यार्थप्रकाश"*** के उक्त संस्करण में सृष्टि को (प्रवाह से) अनादि और अनन्त भी नहीं मानते थे। वे लिखते हैं कि अनेक सृष्टियाँ हो गयी हैं और आगे भी होंगी किन्तु एक आदि सृष्टि थी और एक "अत्यन्त–प्रलय" होगा।[16] यहाँ आदि सृष्टि अभाव से भाव का उदाहरण प्रतीत होती है और अत्यन्त प्रलय भाव से अभाव का।

और तो और, उन्होंने ***"सत्यार्थप्रकाश"*** के उक्त संस्करण में यह लिखा है कि "परमेश्वर ने जीव रचे हैं"[17] और अत्यन्त प्रलय में जीव और प्रकृति भी नहीं रह जायेंगे।[18]

हमारा अनुमान है कि स्वामी जी ने त्रैतवाद की स्पष्ट रूप से स्थापना 1877 ई. में चांदापुर के मेले में की थी। स्वामी जी के ग्रन्थों से पता चलता है कि यह केवल ईश्वर, जीव और परमाणुरूपा प्रकृति को ही नहीं अनादि मानते थे, सामान्य, विशेष, समन्वय, आकाश, काल, दिक् तथा यावद्द्रव्यभाविगुणों को भी अनादि मानने के पक्ष में थे, यद्यपि उन्होंने इनका कहीं उल्लेख नहीं किया है। अस्तु, प्रथम ***"सत्यार्थप्रकाश"*** में द्वितीय ***"सत्यार्थप्रकाश"*** से कई अन्य बातें भी भिन्न थीं। उदाहरणतः –

1. प्रथम संस्करण में मृत पितरों के श्राद्ध-तर्पण की पूरी विधि प्रतिपादित थी और मांस का पिण्डदान निष्पाप बतलाया गया था।
2. यज्ञ में पशुहिंसा स्वीकार की गयी थी, बल्कि हिंसापरक गोमेध का भी प्रकरण था और मास आदि से प्रातः और सायं हवन का प्राविधान किया गया था।
3. पूर्वाभिमुख होकर देवतर्पण का भी विधान था।
4. शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का निषेध किया गया था।
5. कन्याओं के यज्ञोपवीत का निषेध किया गया था।

---

13. द्रष्टव्य स्वामी श्रद्धानन्द, आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्य समाज के सिद्धान्त, भूमिका, स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड 3, सं. भवानीलाल भारतीय दिल्ली, गोविन्दराम हासानन्द, 1987 पृ. 10-11
14. वही
15. युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्र और विज्ञापन, भाग 3, पृष्ठ 413-414
16. पृष्ठ 245, 256, 262, 271-72
17. पृष्ठ 237
18. पृष्ठ 295

6. मुक्ति को अनन्त निरवधि माना गया था।

"सत्यार्थप्रकाश" के द्वितीय संस्करण में मुक्ति की अवधि "तीन लाख साठ सहस्र बार" सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के समय के बराबर निर्धारित की गयी थी। खेद है कि चौथे और आगे के संस्करणों में उक्त अवधि घटाकर "छत्तीस सहस्र बार" कर दी गयी है।

इस प्रकार *"सत्यार्थप्रकाश"* के प्रथम संस्करण (1874) में अनेक ऐसे विचार समाविष्ट थे जो उसके द्वितीय संस्करण (1884) में बदल डाले गये। स्मरण रहे कि ऐसा होने पर भी स्वामी श्रद्धानन्द ने एक पुस्तक, *"आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्य समाज के सिद्धान्त"* (1974 वि.) लिखकर *"सत्यार्थप्रकाश"* के प्रथम संस्करण की उपयोगिता और महत्ता सिद्ध की थी। ऐसा उन्होंने तब किया था जब सनातनी पण्डित कालूराम शास्त्री ने *"सत्यार्थप्रकाश"* का प्रथम संस्करण (1916) में पुनः प्रकाशित करके आर्य समाज और स्वामी दयानन्द पर प्रतिकूल टिप्पणी की थी। कालूराम से पूर्व आर्यसमाजियों से रुष्ट धर्मपाल (पूर्व नाम अब्दुल गफूर) ने *"सत्यार्थप्रकाश"* का प्रथम संस्करण *"न्यायप्रकाश"* शीर्षक से उर्दू में प्रकाशित किया था और शीघ्र ही इस्लाम धर्म में प्रत्यावर्तित होकर ग़ाजी महमूद धर्मपाल बन गये थे। प्रथम संस्करण के कुछ सिद्धान्त चौंकाने वाले हैं। जैसे स्वामी जी ने नमक कर का विरोध करके गाँधी जी के नमक सत्याग्रह का पूर्वाभास दे दिया था।

"आर्याभिविनय" के प्रथम और द्वितीय संस्करण में मुक्ति की पुनरावृत्ति न मानकर यह स्थापना की गयी थी कि "मुक्त जीव फिर कभी जन्म–मरण आदि दुःख सागर को प्राप्त नहीं होता।"[19] और "फिर वहाँ से कभी दुःख में नहीं गिरते।"[20] *"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका"* के मत से इस मत का अद्भुत साम्य है।

"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में मुक्ति से पुनरावृत्ति की कहीं चर्चा नहीं है, यद्यपि उसमें मुक्ति-विषयक एक स्वतन्त्र प्रकरण समाविष्ट है। इसके विपरीत उसमें स्पष्ट सङ्केत है कि मुक्ति की अवस्था सदा बनी रहती है– **"परब्रह्मप्राप्त्या जीवत् सदा सुखी भवतीति बोध्यम्।"**[21] अन्यत्र, **"सर्वेश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर् मुक्तिः।**[22] *"आर्याभिविनय"* (सं. 1932), *"आर्योद्देश्यरत्नमाला"* (1934) और *"पंचमहायज्ञविधि"* में भी यही स्थिति है। पंजाब में स्वामी जी से प्रश्न किया गया कि आत्मायें असङ्ख्य हैं अथवा नहीं। उत्तर में उन्होंने ईश्वर के ज्ञान की दृष्टि से उन्हें संख्यात माना था। किन्तु "सभी आत्माओं के मुक्त हो जाने पर क्या सृष्टि उच्छिन्न हो जायेगी"– इस प्रश्न से दो-चार होने पर उन्होंने मुक्ति से पुनरावृत्ति सिद्धान्त की उद्भावना की थी। किन्तु, जैसा युधिष्ठिर मीमांसक ने लिखा है, "ऋषि दयानन्द इस विषय में चिरकाल तक दोलायमान रहे।"[23] अस्तु, स्वामी जी ने इस नये सिद्धान्त का उल्लेख सर्वप्रथम किया है।[24]

---

19. उपक्रमणिका
20. प्रथम प्रकाश, मन्त्र 21
21. पृष्ठ 215
22. वेदविरुद्धमतम्, दयानन्दग्रन्थमाला, भाग 2 (1925), पृष्ठ 795
23. मीमांसक, ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृ. 98
24. संस्कृत वाक्य प्रबोध (1936)

"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में एक वाक्य ऐसा भी मिलता है जिसमें मुक्ति की आयु सौ वर्ष बतलायी गयी है– "......**विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति तस्माद् ब्रह्मणश् शतवर्ष-संख्यातात् कदाचित् पुनरावर्तन्ते इति**। इस पर मीमांसक जी लिखते हैं "सम्भव है ऋषि दयानन्द ने यह पंक्ति मुद्रण से कुछ पूर्व (सं. 1934 वि. में) बढ़ा दी हो, जबकि उनके विचार में परिवर्तन होने लगा था।"[25]

स्वामी जी के विचारों में परिवर्तन के अन्य उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं :–

1. पौष 1903 से ज्येष्ठ 1923 विक्रमी तक स्वामी जी अद्वैतवादी रहे, जैसा कि उनकी आत्मकथा से प्रकट होता है। वस्तुतः ज्येष्ठ 1923 वि. में उन्होंने जीव और ब्रह्म के एकत्व का पक्ष लेकर पादरी जान राब्तन से शास्त्रार्थ भी किया था।

2. कार्तिक 1924 वि. में स्वामी जी एक प्रकार से द्वैतवादी बन गये थे, किन्तु वह प्रकृति और जीव सभी मतों के सदृश ईश्वर-रचित मानते थे।

3. **सत्यार्थप्रकाश**,[26] तथा **पञ्चमहायज्ञविधि** में मूल पितरों के श्राद्ध-तर्पण का विधान पाया जाता है।

4. ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य के प्रथम द्वितीय अंकों (श्रावण-भाद्रपद 1935 वि.) के मुख पृष्ठ पर विज्ञापन द्वारा श्राद्ध-तर्पण का खण्डन किया गया है। वैसे 1924 वि० में भी जीवित पितरों के श्राद्ध का एक बार उपदेश पाया जाता है।

---

25. प्र.द. के ग्रंथ का इतिहास, पृ. 98
26. प्रथम संस्करण, पृष्ठ 42 और 47

अध्याय – 2

मांसाहार – हिचकिचाहट

स्वामी जी मांस-भक्षण के विषय में प्रायः अन्त तक दोलायमान रहे थे। उनके वेदभाष्य में यत्र-तत्र मांस-भक्षण का विधान था, जिसे उन्होंने बाद में निकाल दिया था। किन्तु *"सत्यार्थप्रकाश"* (द्वितीय संस्करण) के दसवें समुल्लास की प्रेस कापी का संशोधन करते समय मांस-भक्षण को विहित करने वाले अधोलिखित वाक्य अपने हाथ से बढ़ा दिये थे–

"प्रश्न– सब मांस भक्ष्य व अभक्ष्य है। (उत्तर) **अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुटो ऽभक्ष्यो ग्रामशूकरः।** जो ग्राम में कुक्कुट और सूकर तथा मांसाहारी सब पशु पक्षी तिर्यक् जो पेट से चलते हैं अशुद्धाहारी यत्स्यादि हैं वे सब अभक्ष्य और इनसे भिन्न शुद्धाहार जांगल सब भक्ष्य हैं, परन्तु यह बात राजवर्गी मनुष्यों के लिए है अन्य के लिए नहीं। (प्रश्न) ग्राम के कुक्कुट आदि अभक्ष्य और वनस्थ भक्ष्य हैं इसमें क्या युक्ति है ? (उत्तर) ग्रामस्य कुक्कुट आदि उपकारक अशुद्धाहारी अभक्ष्य और जंगलवासी हानिकारक शुद्धाहारी भक्ष्य हैं।"[1]

मुंशी समर्थदान ने पुस्तक छापते समय स्वामी जी को लिखा था– "निवेदन यह है कि वेदभाष्य में जो मांस-भक्षण का विधान आया था उसको आपने निकाल दिया था और मुझको भी आज्ञा दी थी कि मांस का विधान न आये इस प्रकार से छाप दो सो मैंने छाप दिया था। अब *"सत्यार्थप्रकाश"* के भक्ष्याभक्ष्य का प्रकरण आया इसमें भी आपने मांस खाने की आज्ञा स्पष्ट दी है। प्रथम जब पुस्तक लिखी गयी थी तब तो मांस की आज्ञा नहीं दी, पीछे शोधते समय आपने दी है ऊपर से आपने बनाया है। इससे मेरी शक्ति नहीं कि मैं इसको काट दूँ। इसलिये आपसे निवेदन किया है, अब जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा किया जाये। आपने ऐसी आज्ञा दी है कि जिन पशुओं को क्षत्रिय खेतों की रक्षा के लिये मारें व अन्य ऐसे कारणों से मारें तो उनका मांस खावें तो कुछ दोष नहीं है।........सो कृपा करके प्रथम विचार कर लिया करें तो उपकार विशेष हो।.... थोड़े-थोड़े काल में विचार का बदलना हानिकारक होता है"।[2]

---

1. द्रष्टव्य हरविलास सारडा कृत "वर्क्स ऑव महर्षि दयानन्द" के पृ. 70 के सामने "सत्यार्थप्रकाश" की प्रेस कापी के पृ. 183 की फोटो प्रिंट कॉपी, जो युधिष्ठिर मीमांसक के "ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास", पृ. 390-391 में उद्धृत है।
2. मीमांसक, प्र. द. को लिखे गये पत्र और विज्ञापन, भाग 3, पृ. 413–414

आगे चलकर यह जोड़ा गया है, "इस पत्र का विषय ऐसा खानगी है कि विरोधियों को प्रगट होने से बड़ी हानि होती है।"[3] तब स्वामी जी का उत्तर अनुपलब्ध है, किन्तु उक्त पंक्तियाँ ***"सत्यार्थप्रकाश"*** से निकाल दी गयीं। मीमांसक जी की टिप्पणी है कि दयानन्द का उत्तर "मुंशी समर्थदान ने नष्ट कर दिया होगा, जिससे वह किसी विरोधी के हाथ न पड़ जाय।[4]

"सत्यधर्मविचार" में स्वामी जी ने प्रश्न उठाया है, **"मांसभक्षणस्य विधिरस्ति निषेधो वा ?"** मांसभक्षण का विधान है अथवा निषेध, और उत्तर दिया है, **"यज्ञे विधिरस्ति, अन्यत्र निषेधः।"** यज्ञ में विधान है, अन्यत्र निषेध है और जोड़ा है, **"परन्तु पशूनां मध्ये ये नरास् तेषां हननविधिरस्ति, नैव स्त्रीणां वेति।"** पशुओं के बीच जो नर हैं उनके हनन का विधान है, स्त्रियों का नहीं। पुनः जोड़ा है, **"कुत एतत् स्त्रीणां हनने सति महती हानिः भवति।"** स्त्रियों का हनन करने से बहुत हानि होती है।[5]

---

3. तत्रैव, पृ. 415
4. तत्रैव, पृ. 415, पाद टिप्पणी
5. स्वामी दयानन्द, सद्धर्मविचार, वेदवाणी, "दयानन्द-विशेषांक" (5), 40, 31 जनवरी, 1988, पृ. 34

अध्याय – 3

खूगरे हम्द से थोड़ी सी शिकायत सुन लें

दयानन्द की अपनी सीमायें भी थीं, सीमायें सबकी होती हैं। यहाँ हम केवल सर्वाधिक खटकने वाली सीमाओं पर ही दृष्टिपात करना चाहेंगे।

दयानन्द का सबसे बड़ा दोष, जो वस्तुतः उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ था, उंनके द्वारा वेद-भाष्य में अपनायी गयी लालबुझक्कड़ी शैली। यह कहने से मुझे कोई नहीं रोक सकता कि उनका वेद-भाष्य कई अंशों में लालबुझक्कड़ भाष्य कहा जा सकता है। इस पर मैं कभी विस्तार से विचार करने की आकांक्षा रखता हूँ। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने वेदार्थ को रबड़ के समान बना दिया, जिसको जो जिधर चाहे खींच सकता है। वेद क्या हुआ भानुमती का पिटारा हुआ, जिसमें से रेल, तार, हवाई जहाज, अणु-बम सब कुछ निकाला जा सकता है। उनकी धारणा शायद यह थी कि वे हिन्दू धर्म का यथावत् संस्कार तभी कर सकते थे जबकि वे वेदार्थ को अनुकूल बना लें। हाँ, उनके समसामयिक आलोचक और देवसमाज के संस्थापक पं० शिवनारायण अग्निहोत्री कृत ***"पण्डित दयानन्द की पोल"*** (1891) के अनुसार स्वामी जी ने कई प्रामाणिक महानुभावों के समक्ष प्राइवेट वार्ता में स्वीकार किया था कि व्यक्तिगत रूप से वे भी वेद को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानते और कहा था कि वेद पर इतने आग्रह के बिना हिन्दू जाति को सम्प्रदायों के दलदल से निकालना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मथुरा के पादरी पी. एम. ज़ेंकर (P. M. Zenkar) के अनुसार भी 1864-1886 के बीच वृन्दावन में उन्हें (जेंकर को) पता लगा कि दयानन्द का वास्तविक उद्देश्य यह था कि यूरोप के राष्ट्रों को आधुनिक सभ्यता से जो लाभ प्राप्त हुए हैं वे सभी भारत के लिए भी प्राप्त किये जायं, किन्तु हिन्दू नागरिकों के स्वभाव से पूर्णतया परिचित होने के कारण वे मानते थे कि वे किसी ऐसे पुरुष को मार्गदर्शक स्वीकार करने के लिए शायद ही राज़ी होंगे जो इसे ही उस सारी शिक्षा–प्रशिक्षा के लक्ष्य और ध्येय के रूप में प्रस्तुत करेगा जो उन्हें ग्रहण करनी पड़ेगी। अतः उस (दयानन्द) ने (कड़वी) गोली पर मुलम्मा चढ़ाने की किसी युक्ति के लिए नज़र दौड़ायी और सोचा कि उसने इस उद्घोष में पा लिया है– "आओ हम वेदों के विशुद्ध उपदेश की ओर लौट चलें।"

(Mr. Zenkar records that Dayanand's real object was to obtain for India all the advantages which Western civilization has conferred on the nations of Europe but that being fully acquainted with character of the Hindu countrymen he knew that they would hardly be willing to accept as a guide one who would

present this as the sole aim and object of all the training they would have to undergo. He, therefore, cast about for an expedient to gild the pill and thought he had found it in the cry - "Let us return to the pure teaching of the Vedas.") एक गुप्त सरकारी रिपोर्ट, जिसे स्वामी श्रद्धानन्द ने 1909 में देखा था।[1] इसी प्रकार पण्डित देवकीनन्दन ने कहा कि स्वामी दयानन्द ने मेरे सामने माना था कि यद्यपि मैं बाहर से पुराणों का खण्डन ईसाइयों से बचाने के लिए करता हूँ, तथापि मेरा निजमत मूर्तिपूजा ही है।........सरदार विक्रम सिंह अहलूवालिया तथा दो एक उनके तुल्य..........मौजूद थे।[2] एक अन्य स्रोत से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। देखिए– "वर्ष 1874 के अन्त में.....दयानन्द सरस्वती......अहमदाबाद आये। प्रार्थना समाज ने इस महापुरुष को अपनी वेदी उत्सुकतापूर्वक प्रदान की।.......भोलानाथ (रावबहादुर भोलानाथ साराभाई) ने स्वामी दयानन्द के कार्य की प्रशंसा की.........किन्तु वे स्वामी जी की इस नीतियुक्त चतुराई से सहमत नहीं थे कि धर्म के मामले में मात्र अभीष्ट पूर्ति या कार्यसाधन के लिए ही वे वेद के स्वतः प्रमाण होने और निर्भ्रान्त होने के मत को प्रचलित किया जाय.....।[3] "एक समय भोलानाथ ने दयानन्द से कहा– "स्वामी जी, आप वेद को ईश्वरप्रणीत बताने का प्रयास करते हो, सो बुद्धिमान् लोगों के सामने तो व्यर्थ ही है।" इस पर दयानन्द ने कहा– "यह सब बात तो सच है, परन्तु भोलानाथ जी, ऐसा समझाये सिवाय सब लोग अपने संग कैसे आने वाले ? और अपनी गाड़ी चले कैसे ?"[4]

वस्तुतः स्वामी जी के वेदभाष्य पर विचार करने पर हमें भी लगता है कि उनके विषय में उदाहृत रिपोर्ट सर्वथा निराधार कहकर टाली नहीं जा सकती।

अस्तु, स्वामी जी का वेद पर इतना आग्रह अनावश्यक ही जान पड़ता है। चाहे यह सही हो कि हिन्दू जाति का संग्रथन और उसे सम्प्रदायों के दलदल से मुक्ति दिलाने का कार्य वेद जैसी ठोस आधारशिला में आस्था के प्रचार के आरम्भ में किसी सीमा तक अपेक्षा रखता था, तथापि वह वेद के प्रत्येक शब्द को दिव्य और ईश्वरीय मानने के चक्कर से बच सकते थे। जो हो, आरम्भ में जो किसी सीमा तक सहारा था वह अब भार बन गया है।

स्वामी जी की शैली में पायी जाने वाली अनावश्यक कटुता खल जाने वाली चीज़ है। तत्कालीन परिस्थितियों में उन जैसे व्रती के लिए अपना सन्तुलन बनाये रखना शायद सरल नहीं था, तथापि उनकी उग्रता कई बार असह्य हो उठती थी। इस सन्दर्भ में उनकी कितनी कुख्याति थी इसकी बानगी लीजिए। मिर्ज़ापुर के पण्डितों ने उन्हें सम्भवतः मार्च 1670 में एक पत्र भेजा था,

---

1. द्रष्टव्य स्वामी श्रद्धानन्द, "ईसाई पक्षपात और आर्यसमाज", स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड 3, पृ. 182-183 लगभग पक्षपात यही उद्धरण जे. एन. फर्कुहार (J. N. Faquhar, *Modern Religious Movements in India* (London, 1929) 1, पृ. में भी उपलब्ध है।
2. तत्रैव, पृ. 183
3. *"The Life of Bholanath Sarabhai"*, पृ. 7, द्रष्टव्य भवानीलाल भारतीय, "रावबहादुर भोलानाथ साराभाई के जीवन चरित्र में स्वामी दयानन्द विषयक संदर्भों की समीक्षा", आर्यमित्र, 20, 27 नवम्बर 1988, पृ. 3
4. भोलानाथ कृत रा. ब. भोलानाथ साराभाई के गुजराती जीवन चरित से भवानीलाल भारतीय द्वारा अभिलेख पृ. 41 में उद्धृत।

जिसके शब्द हैं– "हम लोग आज शास्त्रार्थ करने आयेंगे। आप मूर्ख दुष्टादि कड़े शब्द कह दिया करते हैं। यदि ऐसा ही हमको कहा तो दण्ड दिया जावेगा।"[5]

कटुता वस्तुतः उनका स्वभाव बन गयी थी। इससे उनके प्रशंसक, सहायक और कट्टर अनुयायी भी क्षुब्ध हो जाते थे। उनके परम सहायक सुन्दरलाल ने उन्हें पं० भीमसेन से उनके दुर्व्यवहार के सम्बन्ध में 18 दिसम्बर 1881 को जो पत्र लिखा था वह इस पर प्रचुर प्रकाश डालता है। वह पत्र यों है–

"आपने जो भीमसेन के मध्ये लिखा था सो उसको पढ़कर वह बहुत उदास हुए थे पर मैंने उनको समझाकर राजी किया असल बात यह है कि वह बैठा नहीं रहता है न सुस्ती करता है पर जो पुस्तक व्याकरण की आती है उनको उसको फिर कर लिखना पड़ता है यह काम हर एक मनुष्य का नहीं जिसने आपसे विद्या पढ़ी होय और आपका अभिप्राय जाने वह ही इन पुस्तकों को शोध सकता है और आपको यह भी लिखना मुनासिब नहीं कि 5 महीना शोधने का मिलता है जब ज्वालादत्त चला गया उस समय मैं सिर पटककर रह गया और कोई योग्य पुरुष शोधन को 10 या 15 महीने को भी न मिला और जितना काम भीमसेन करता है उतना काम करने वाला अब 20 तथा 25 महीने से कम को नहीं मिलेगा......यह न लिखना चाहिये कि अमुक मनुष्य कामचोर है या हरामखोरी करता है क्योंकि ऐसे अपशब्द के सुनने से उसकी प्रीति आपसे हट जाती है और बेमन होकर वह चला जाता है......।"

आपका चरण सेवक
सुन्दरलाल

यह पत्र 18 दिसम्बर 1881 का है।[6]

वस्तुतः स्वामी जी के अनुयायियों ने भी पं० भीमसेन के साथ पदे-पदे दुर्व्यवहार ही किया। आचार्य विश्वश्रवा स्वीकार करते हैं कि उनकी समता का एक भी पण्डित आर्यसमाज में नहीं हुआ। अन्ततः वे आर्य समाज से पृथक् और विरोधी हो गये थे।

इसी प्रकार स्वामी जी ने थियोसॉफिकल सोसायटी की प्रवर्तिका एच० पी० ब्लैवेट्स्की और उनके सहयोगी कर्नल एच० एस० ऑलकाट से भी विग्रह करके उनसे सम्बन्धविच्छेद कर लिया था, और वह भी यह तर्क देकर कि वे ईसाई अथवा नास्तिक हैं। और उनके अनुयायियों में अग्रणी आर्य समाज पेशावर के मंत्री पं. लेखराम ने 7 मई 1882 को स्वामी जी को मुंशी इन्द्रमणि के विषय में जो पत्र लिखा था वह स्वामी जी के अत्युग्र स्वभाव के विषय में कोई संशय नहीं रहने देता– "........मुन्शी इन्द्रमणि को भी सुना दिया कि आपने सख्त सुस्त लिखा........अब प्रार्थना है कि आप कृपा करके चुप ही रहें और आगे को जैसे लाईकों का दिल न तोड़ो। अगर वह विनती मेरी आप मान लें तो अभी कुछ नहीं सोचा गेआ मानना वाजब है वरना निफाक के सबब एक-एक होकर

---

5. ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन (1), युधिष्ठिर मीमांसक, सं., तृतीय भाग बहालगढ़ : रामलाल कपूर ट्रस्ट 1982, पृ.
6. ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन तृतीय भाग, युधिष्ठिर मीमांसक, सं. बहालगढ़ : रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1982 पृ. 204–205

सब फिर वैसा ही अंधेरा मच जावेगा मुन्शी इंदरमुनि जी को मैंने लिखा है वह भी उभेद है के मान जाईगे आप भी खिमा कीजई।"[7]

वस्तुतः मुंशी चन्द्रमणि जैसे इस्लाम के अप्रतिम हिन्दू विद्वान् के साथ स्वामी जी का बखेड़ा मोल ले लेना हिन्दू जाति के लिए अत्यन्त बौद्ध का विषय कहा जा सकता है। मुंशी जी उर्दू, फारसी, अरबी के असाधारण विद्वान् तो थे ही संस्कृत और वेद-शास्त्र के गम्भीर अध्येता भी थे। उन्होंने उर्दू और फारसी, गद्य और पद्य में इस्लाम के खण्डन और हिन्दू धर्म पर मुसलमानों द्वारा उछाले गये कीचड़ के उत्तर में अत्यन्त प्रामाणिक और गम्भीर पुस्तकें लिखी हैं। वे पुस्तकें अपनी समता नहीं रखतीं। वे अब प्रायः अलभ्य और नष्ट हैं। हमें गुरुकुल कांगड़ी में उनमें से कुछ के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। स्वामी जी उनसे रुपये-पैसे के हिसाब को लेकर इतने रुष्ट हुए कि उन्हें आर्य समाज से बहिष्कृत कर दिया। वस्तुतः स्वामी जी क्षमा करना जानते ही नहीं थे। मुंशी जी का गम्भीर शास्त्रज्ञान किस प्रकार स्वामी जी के आड़े आया था वह परिशिष्ट-गत तथ्य से स्पष्ट हो जाना चाहिए।

वस्तुतः दयानन्द व्यक्ति नहीं, एक आन्दोलन है, जिसे समझने की एक विशेष विधि होती है। वह रिसर्च स्कॉलर नहीं थे कि हर बात अक्षरशः और बिन्दुशः साध कर लिखें। उनका अधिकांश समय व्याख्यानों, शास्त्रार्थों और शंका-समाधानों में व्यतीत हो जाता था। पढ़ने, उद्धरण सत्यापित करने और प्रत्येक वाक्य की अन्य वाक्यों में संगति लगाने का समय नहीं के बराबर मिल पाता था। एतदर्थ उन्हें अपने सहायक पण्डितों पर भरोसा करना पड़ता था। परन्तु उनसे पूर्णतः आश्वस्त भी नहीं थे। फलतः असावधानी, प्रमाद तथा अन्य कारणों से लेखों में अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ–विसंगतियाँ हो जाती थीं। प्रकाश में आने पर कभी-कभी किसी अशुद्धि की नयी व्याख्या करके संभालना पड़ता था, जब वह भय होता था कि उनके अंगीकार वे उनकी बातों को लोग ध्यान से सुनने योग्य समझेंगे ही नहीं। आन्दोलनों में ऐसे अवसर आते ही हैं। इसके अतिरिक्त उनके विचारों में विकास-क्रम दृष्टिगोचर हाता है, जैसा आरम्भ में दिखाया जा चुका है।

काशी शास्त्रार्थ के अवसर पर ऐसा ही हुआ था। दयानन्द ने देखा कि उनकी वेद में "पुराण" शब्द को केवल विशेषण के रूप में मानने की भूल से उनका मिशन संकट में पड़ जायेगा तो उन्होंने मौन हो जाने और बाद में उल्टी-सीधी सफाई देने का मार्ग चुना। वह एक विशुद्ध व्यवहार की बात है, जिसमें कभी-कभी सत्य से समझौता अनिवार्य हो जाता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से दयानन्द ने लिखा है कि शंकराचार्य ने यदि मायावाद को बौद्धों से शास्त्रार्थ में विजय के लिए वरण किया तो अच्छा था। तथापि यह राजस मार्ग है। सात्विक मार्ग तो यही है कि ऐसी भूल हो जाय तो स्वीकार की जाय।

यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यातव्य है। यह समझना भूल है कि काशी शास्त्रार्थ में दयानन्द की हार हुई थी। हमारे सामने स्वामी केशवपुरी और भवानीलाल भारतीय द्वारा प्रकाशित प्रामाणिक शास्त्रार्थ–विवरण उपस्थित हैं। शास्त्रार्थ नितान्त अव्यवस्थित था। किसी एक विषय पर केन्द्रित रहा ही नहीं। काशी के पण्डित अन्त तक, वेद में मूर्तिपूजा दिखला नहीं सके और इधर-उधर की बातें छेड़कर कालयापन करते रहे। उन दिनों दयानन्द वेद के अन्तर्गत ब्राह्मणों

7. तत्रैव, पृ. 233

की भी गणना करते थे और देवता, स्वर्गादि लोक भी मानते थे, जिससे उन्हें थोड़ी परेशानी हुई। बाद में उन्होंने अपने विचार बदल दिए। परिवर्तनप्रवणता प्रगतिशील व्यक्तित्व का भूषण है।

इन बातों के बावजूद कुछ तथ्य ऐसे हैं जो स्वामी जी के व्यक्तित्व पर भारी कलंक का टीका लगाते हैं जो कभी धोया नहीं जा सकता।

स्वामी जी ने पण्डिता रमाबाई से अच्छा बर्ताव न करके अपनी उस परम विदुषी सहायिका को खो दिया था। रमाबाई ने अन्ततः ईसाई मत ग्रहण करके 13 अक्टूबर 1880 को विपिन बिहारी नामक एक बंगाली युवक से विवाह कर लिया था। तथापि उन्होंने (हिन्दू) महिलाओं के उद्धार और उनकी स्थिति में सुधार के लिए व्यापक प्रयत्न किया था। वह स्वामी जी की भक्त थीं, उन्हें संस्कृत में अनेक असाधारण विद्वत्तापूर्ण पत्र लिखे थे, स्वामी जी के पास आकर उनसे दर्शन की यत्किंचित् शिक्षा ग्रहण की थी। किन्तु जब स्वामी जी को पता चला कि वह किसी विजातीय बंगाली से विवाह करना चाहती हैं, तो उन्होंने उसे एक पत्र लिखकर जाति के बाहर विवाह करने से रोकना चाहा था। वह पत्र उपलब्ध नहीं है। किन्तु रमाबाई ने जो उत्तर दिया था वह उपलब्ध है।[8] इस पत्र में रमाबाई ने स्वामी जी पर मिथ्याचार का आरोप लगाते हुए लिखा है कि वे उपदेश तो कर्मणा वर्ण का देते हैं, जन्मना वर्ण की कटु आलोचना करते हैं, किन्तु उससे जन्मना जाति बरतने का आग्रह करते हैं। पत्र नीचे दिया जाता है–

श्रीमत्सु दयानन्दसरस्वतीस्वामिपादप्रान्तेषु

सविनयं प्रणति–निवेदनम्

आर्यपाद, श्रीमतामुपदेशपत्रमवाप्य मनाक् विस्मितास्मि। सम्पूर्ण–शिक्षिता एव ब्राह्मणा इति मुहुरूपदिशतामपि भवतामियमद्येदृशी परस्पर–विरूद्ध कथमिव वाक् प्रसरति ? यदि नाम गोमहिषाश्वाश्वतरादिजातीनामिव वर्णानामपि न सम्भवव्यत्वयसू, तदा यः कोपि सुशिक्षितो ब्राह्मणसूतद्विपरीतशू व शूद्रशू चाण्डालो वेति वादसू तु केवलमुन्मत्त–प्रलपितमेव। यहूर्येतदीदृक्, तर्ह्युल्लिखितादाग्रहन्निवर्त्तितुमुचितं श्रीमताम्रन्तपक्षावलम्बिनां यतो मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। अतो विरूद्धाचरथे–

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यत्, इत्यापतति। यतोऽधुना भवन्तः केवलं वचसैव सुशिक्षितानां ब्राह्मणत्वमितरेषां च शूद्रत्वं प्रतिपादयन्ति न कर्मणा। अहह किमद्याप्ययं ब्राह्मणवंशजो ब्राह्मणः शूद्रवंशजः शूद्रः इति वंशानुक्रमिकः कुसंस्कारः श्रीमतां हृदयावकाशे जागर्त्ति ?

x x x

अस्मि श्रीमत्पादाशिषा सर्वतः कुशलिनी। सदैवमेवानुग्रहपत्रप्रेषणादिनानुग्रहीत–व्योयमनुगतः श्रीमदनुकम्पाभाजनं जन इति शिवम्।

नितान्तमनुग्रहीता
रमा

---

8. तत्रैव, पृ. 113-114

श्रीमान् दयानन्दसरस्वती स्वामी के चरणों में

सविनय प्रणति–निवेदन

"आर्यपाद ! श्रीमान् का उपदेश पत्र पाकर किञ्चित् विस्मित हूँ। आर्य पूर्ण शिक्षितों को ही ब्राह्मण मानने का सदा उपदेश करते रहते हैं, तो फिर आज आपसे इस प्रकार की पूर्वापर विरुद्ध वाणी कैसे फूटती है ? यदि गो, महिष, अश्व, अश्वतर आदि जातियों के समान वर्णों का भी व्यत्यय सम्भव नहीं है, तब यह वाद कि जो कोई शिक्षित है वह ब्राह्मण है और तद्विपरीत शूद्र अथवा चाण्डाल है उन्मत्त का प्रलाप मात्र हो जाता है। यदि ऐसा है तो अपने लिखे आग्रह से श्रीमान् जैसे अभ्रान्तपक्षावलम्बी को निवृत्त हो जाना चाहिए, क्योंकि महात्माओं का मन, वचन और कर्म एक होता है। मनस्येकं, वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्। अतः विरुद्धाचरण से– मन, वचन, और कर्म भिन्न (मनस्यन्यद्, वचस्यन्यद्, कर्मण्मन्यद्) प्रसक्त होता है।

"अब आप केवल वाणी से ही सुशिक्षितों को ब्राह्मण और अन्यों को शूद्र प्रतिपादित करते हैं, कर्म से नहीं। अहह ! क्या अब भी श्रीमान् के हृदयाकाश में ब्राह्मण वंशज ब्राह्मण और शूद्रवंशज शूद्र ऐसा वंशानुक्रमिक कुसंस्कार जाग्रत है ?

x x x

श्रीमान् के आशीर्वाद से मैं सर्वथा कुशल हूँ। सदा इसी प्रकार पत्रप्रेषण आदि द्वारा अनुग्रहीतव्या, श्रीमान् की अनुयायिनी, श्रीमान् की कृपाभाजन– इति शिवम्

नितान्तमनुग्रहीता
रमा

वस्तुतः कभी-कभी स्वामी जी वाक्छल अथवा अवसरवादिता के दोषी प्रतीत होते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। मौलाना मुहम्मद कासिम नानोतवी ने स्वामी जी को 14 अगस्त 1978 को एक पत्र लिखा था– स्वामी जी, आपने कानपुर के विज्ञापन में इक्कीस शास्त्रों पर आस्था प्रकट की, और कहीं और पहुँचे तो चारों वेदों पर सन्तोष कर लिया। कभी सारे भाग स्वीकरणीय और कभी ब्राह्मण भाग को अस्वीकृति और मन्त्र भाग को स्वीकृति....।[9]

स्वामी जी उत्तर देते हैं :

कानपुर के विज्ञापन में इक्कीस शास्त्रों पर विश्वास लाये इत्यादि। वाह ! समझे तो क्या समझे ? तनिक पहले किसी से 'शास्त्र' शब्द का अर्थ पूछ लीजिये और फिर आक्षेप करने पर कमर बाँधिये।

मैं आपसे आपके इस कथन का प्रमाण माँगू तो बताइये आप क्या उत्तर देंगे ? श्रीमान् जी ! मैंने उस शास्त्रार्थ में पवित्र वेद के इक्कीस विभिन्न व्याख्यानों की सत्यता स्वीकार की है और अब भी उनके ठीक होना स्वीकार करता हूँ। आर्यों में शास्त्र केवल छः हैं। उनसे और उन व्याख्यानों में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ब्राह्मण और मन्त्र भाग बताइये, मैंने उनसे कहाँ इंकार किया प्रमाणरहित

9. तत्रैव, पृ. 44

दावे को तो हम मानते नहीं, आप ही इसे कुछ विद्वत्ता का प्रदर्शन समझते होंगे।

स्वामी दयानन्द द्वारा मौलवी मुहम्मद कासिम को 15 अगस्त 1878 को लिखित उत्तर[10]

यहाँ स्वामी जी ने बौद्धिक ईमानदारी का गला ही घोंट दिया है। अपने आलोच्य विज्ञापन में स्वामी जी ने स्वयं लिखा "एतेष्वेकविंशतिशास्त्रेषु", "एकविंशतिशास्त्रेभ्यः"--, किन्तु अब मौलवी नानौतवी को "इक्कीस शास्त्र" कहने पर फबतियाँ सुनाते हैं। इसके अतिरिक्त आग्रह करते हैं कि शास्त्र केवल छह हैं। और वह आगे लिखते हैं, "ब्राह्मण और मन्त्रभाग-- बताइये मैंने उनसे कहाँ इंकार किया ?" यह वाक्छल की पराकाष्ठा है। कभी ब्राह्मण भाग को वेद मानते थे कभी नहीं मानते, यही तो मौलवी साहेब का आरोप है। "कहाँ इंकार किया ?" का क्या अर्थ। वस्तुतः यह पत्र स्वामी जी के व्यक्तित्व पर एक अमिट कलंक है।

रावबहादुर भोलानाथ साराभाई के पूर्वोद्धृत जीवनचरित में कृष्णराव ने स्वामी जी को "कूटनीतिज्ञ सुधारक", "धर्मप्रचार में भी राजनीतिपूर्ण युक्ति का प्रयोग करने वाले", "धर्मराज खटपटी दयानन्द" जैसे विरुदों से विभूषित किया है। उपर्युद्धृत तथ्यों के सन्दर्भ में ये विरुद सर्वथा सार्थक सिद्ध होते हैं।

दयानन्द का कृष्णपक्ष अमर्यादित नहीं है। उनके व्यक्तित्व का शुक्ल पक्ष बहुत ही मोहक है। दयानन्द वस्तुतः एक निरन्तर प्रगतिशील व्यक्तित्व के धनी थे। उन्होंने कभी भी निर्भ्रान्त होने का दावा नहीं किया। बम्बई में आर्य समाज की स्थापना के समय अपने भाषण में उन्होंने स्पष्ट कहा था, **मेरे मन्तव्य कोई असाधारण व अद्वितीय नहीं हैं और न मैं सर्वज्ञ ही हूँ। अतः यदि युक्तिपूर्वक विचार विमर्श के अनन्तर भविष्य में मेरी कोई भूल आपके सामने आये, तो उसे ठीक कर लीजिए। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे, तो यह समाज भी आगे चलकर एक सम्प्रदाय बनकर रह जायेगा। भारत में जो बहुत से मत-मतान्तर विद्यमान हैं, उसका कारण यही है कि इनमें गुरू के वचन को सत्य की कसौटी मान लिया गया, जिसके परिणामस्वरूप लोग धर्मान्ध हो गये।**[11] आज दयानन्द को ऋषि, महर्षि, न जाने और क्या-क्या बना दिया गया है, जबकि उन्होंने एक बार कहा था कि यदि वे कपिल और कणाद के काल में हुए होते तो उनकी गणना मात्र साधारण विद्वानों में होती। वस्तुतः उन्होंने आर्य समाज संचालन में गुरू, अधिनायक, आदि जैसे किसी भी विशेष पद पर प्रतिष्ठित होना स्वीकार न करके एक साधारण सदस्य के रूप में बने रहना वरण किया था। यहाँ तक कि आर्य समाज मन्दिर में अपना चित्र टाँगना भी वर्जित कर दिया था। वह यह भी आदेश दे गये कि मृत्यु के बाद उनकी समाधि न बनायी जाय। मरते समय अपना उत्तराधिकार किसी चेले अथवा शिष्य को नहीं सौंपा।

परस्पर असमंजस, विरुद्ध और विवदमान हिन्दू जाति के पास दिव्य, स्वतः प्रमाण धर्मग्रन्थों का एक पूरा पुस्तकालय विद्यमान है। जाति में एकसूत्रता आये तो कहाँ से आये ? अतः जब-जब अवसर उपस्थित हुआ है, हिन्दू जाति संभूयसमुत्थान के सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुई है। जिस जाति की श्रद्धा इतने और इस प्रकार के धर्मग्रन्थों में बसी हुई हो वह कभी भी एक सूत्र में आबद्ध

10. **"ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन"**, प्रथम भाग, भगवद्दत्त, सं. युधिष्ठिर मीमासक, परिष्कर्ता और परिवर्धक (तृतीय सं. बहालगढ़ : रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1980, पृ. 197

11. **आर्य समाज का इतिहास** (भाग 1 पृष्ठ 251, में उद्धृत)

नहीं हो सकती है। दयानन्द ने इस तथ्य को पहचाना था और वेद को धर्मग्रन्थों के इस विशाल पुस्तकालय के केन्द्र में स्थापित किया था। और वेद की भी इयत्ता अश्रुतपूर्वरूप से सीमित कर दी थी। उन्होंने शतशः धर्मग्रन्थों को अप्रामाणिक और नकली घोषित करके यही नहीं कि जाति की शास्त्र-श्रद्धा को परिमार्जित, परिनिष्ठित और व्यवस्थित किया, उसे ज्ञान और मूढ़ग्राह में भेद करना भी सिखाया।

सम्भवतः जाति को अनन्त ग्रन्थराशि की भूलभुलय्या से निकालकर उसके मूल में वेद को प्रतिष्ठित किये बिना उसमें एक-सूत्रता अथवा केन्द्रीयता (केन्द्रीयोन्मुखता, केन्द्रण-बिन्दु) का आधान सम्भव ही नहीं था। जो हो, इतिहास साक्षी है कि वेद को हिन्दू जाति के केन्द्र में इस प्रकार प्रतिष्ठित करने का महत्त्व न समझ सकने का ही यह परिणाम है कि सिक्ख सम्प्रदाय, जो कभी इतना घोर हिन्दू सम्प्रदाय था कि उसे हिन्दुत्व की रक्षा में सन्तई छोड़कर खड्गहस्त होना पड़ा था, आज हिन्दुत्व से एकदम कट चुका है। यदि दयानन्द ने भी वेद को धता बता दिया होता तो उनके द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज भी शायद क्रमशः हिन्दुत्व से कट जाता और इस प्रकार उनके सारे उद्देश्य पर पानी फिर जाता। वस्तुतः कोरी बुद्धिवादिता एक बात होती है, और इतिहास की माँग का आकलन करके युगानुकूल जीवन-दर्शन की उद्भावना कर नवयुग के अनुरूप नयी संस्कृति की अवतारणा का दायित्वपूर्ण प्रयास और ही है। वस्तुतः संस्कृतियों के प्रवर्तक और उन्नायक तत्त्व-पुरुष अथवा सत्य-पुरुष (Men of Truth), कम तथ्य-पुरुष (Men of Fact) अधिक होते हैं, और कई दृष्टियों से तथ्य-पुरुष को सत्यानुरूप पर वरीयता प्राप्त है। तथ्य-पुरुष का दायित्व-बोध सत्य-पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित और उग्र होता है, जिससे प्रेरित होकर वह कभी-कभी ज्वालामुखी बनकर आग उगलने लगता है और नीतिमत्ता के सामान्य मानदण्ड के उसके व्यवहार का मूल्यांकन कठिन हो जाता है।

तो, दयानन्द ने खण्डखण्डीकृत जाति को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए एक धर्मग्रन्थ का सूत्र दिया, किन्तु संस्कृति इस शास्त्रप्रामाण्यवाद को बहुत पीछे छोड़ चुकी है।

अध्याय – 4

अभिनव वेदभाष्य

स्वामी जी की वेदविषयक अनेक मान्यतायें नवीन और परम्परा द्वारा असमर्थित हैं। देखिये–

1. प्रथमतः, स्वामी जी विशाल शास्त्रसम्भार को अशास्त्र और जालग्रन्थ मानते हैं और बचे–खुचे शास्त्र-वाङ्मय में भी समस्त स्वमत-विरुद्ध अंश को वेद-विरुद्ध घोषित करते हुए अमान्य कर देते हैं। उनकी कैंची से वेदवाङ्मय भी नहीं बच पाता। वेद की 1131 शाखा-संहिताओं में से केवल 12 उपलब्ध संहिताओं में भी वे केवल चार संहिताओं– शाकला शैशिरीया, माध्यन्दिन-वाजसनेयी, कौथुमी और शौनकीया– को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की संज्ञा देते हुए वेदत्वेन स्वीकार करते हैं और शेष उपलब्ध-अनुपलब्ध संहिताओं, सभी उपलब्ध-अनुपलब्ध आरण्यकों, और *"ईशावास्योपनिषद्"* (जो यजुर्वेद का अन्तिम, चालीसवां अध्याय है) को छोड़ सभी उपनिषदों को वेद-व्याख्यान रूप घोषित करते हैं।

2. दूसरे, उक्त वेदों को आदि सृष्टि में परमेश्वर द्वारा क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक चार ऋषियों पर अवतरित अथवा प्रकाशित मानते हैं।

3. अतः वे वेदों में व्यक्तिवाचक संज्ञायें नहीं मानते, इतिहास नहीं मानते।

4. फलतः वे वेद के सभी पदों को यौगिक मानकर व्याख्या करते हैं।

5. मनु का वचन है कि वेदों का उपबृंहण इतिहास–पुराण की सहायता से करना चाहिए, अन्यथा वेदार्थ भ्रष्ट हो जायेगा–

   इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेतू।
   विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

   स्वामी जी इसकी सर्वथा उपेक्षा करते हैं। वह वेद में इतिहास मानते नहीं, और पुराणों को गप्प घोषित करके तिरस्कृत करते हैं।

6. स्वामी जी के अनुसार वेद में देवपूजा, जड़पूजा और मूर्तिपूजा नहीं है। वेद केवल एक ईश्वर के अस्तित्व और उसी की उपासना का विधान करते हैं। स्वामी जी के अनुसार वेद के देवतापरक-प्रतीयमान पद वस्तुतः परमेश्वरपरक हैं, परमेश्वर के विशेषणस्वरूप हैं। परमेश्वर का मुख्य नाम ओम् है। वेद में प्रयुक्त देवता शब्द का अर्थ वह विद्वान् आदि करके उसका

ऐहिकीकरण कर डालते हैं। तदनुसार वे अग्नि आदि देववाचक शब्दों को भी मनुष्यवाचक मान लेते हैं। वह सम्भवतः *"शतपथब्राह्मण"*[1] के वचन– **"देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः** – को लक्षित नहीं करते हैं।

7. स्वामी जी के अनुसार वेदमन्त्रों के तीन अर्थ सम्भव हैं– आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। ऐसा वह *"निरुक्त"* के आधार पर करने का दावा करते हैं। किन्तु *"निरुक्त"* के अनुसार वेदार्थ त्रिविध नहीं, वेदमन्त्र त्रिविध हैं। और इन तीनों शब्दों का अर्थ भी वह नहीं जो वह और उनके अनुयायी समझाने का प्रयत्न करते हैं। यह व्याकरण में प्रयुक्त क्रमशः अन्यपुरुष, मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष के पर्याय हैं।

8. स्वामी जी की भाष्यशैली प्रायः नैरुक्तिक मानी जाती है, किन्तु यह केवल अंशतः सत्य है। अन्य भाष्यकारों के समान ही वह *"निरुक्त"* का भी आश्रय लेते हैं और अन्य सूत्रों का भी। आप किसी भी वेदभाष्य के भीतर झांकिये, चाहे सायण का हो, उव्वट का हो, महीधर का हो; चाहे प्राचीन हो; चाहे संस्कृत का हो, अंग्रेज़ी अथवा किसी अन्य यूरोपीय भाषा का हो, किसी आधुनिक भारतीय भाषा का हो; सर्वत्र *"निरुक्त"* का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है। *"निरुक्त"* की उपेक्षा कोई भी भाष्यकार कर ही नहीं सकता है। किन्तु *निरुक्त* का महत्त्व सर्वस्वीकृत होते हुए भी किसी ने वेदभाष्य के लिए *"निरुक्त"* को पर्याप्त नहीं माना है, कोई मान भी नहीं सकता है, चाहे वह इसे कण्ठतः स्वीकार करे अथवा नहीं। स्वामी दयानन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। कभी-कभी तो वह देवता, इतिहास, आदि के सन्दर्भ में *"निरुक्त"* की उपेक्षा भी कर जाते हैं। हम समझते हैं कि स्वामी जी की भाष्यशैली प्रायः पञ्चविध है। वह पदार्थ– और वाक्यार्थ– निर्णयार्थ वैदिक पदों के प्रवृत्ति निमित्त-पारज्ञानार्थ कभी व्याकरणगम्य व्युत्पत्तिनिमित्त का आश्रय लेते हैं, कभी निरुक्त-निदर्शित निरुक्तिनिमित्त का, कभी ब्राह्मणों में प्रयुक्त बहुभक्तिनिमित्त का, कभी जैमिनि-प्रतिपादित श्रुतिसामान्यनिमित्त का, और कभी स्वोपज्ञनिमित्त का। वेद में वायुयान आदि का दावा उन्होंने स्वोपज्ञानिमित्त के बल पर किया है। वैसे, कहने को तो वह यह कहते हैं कि उनकी शैली ब्रह्मा से जैमिनिपर्यन्त ऋषि-महर्षियों द्वारा अपनायी गयी शैली है, किन्तु वे उपरिनिर्दिष्ट स्थापनाओं में समूची आर्षपरम्परा से कटे हुए प्रतीत होते हैं।

9. स्वामी जी पशुयज्ञपरक, अश्लील, विज्ञानविरुद्ध वेदमन्त्रों का परम्परा विरुद्ध अर्थ करने में अपनी समता नहीं रखते हैं।

यहाँ इन विषयों के विस्तार में जाना हमारे लिए सम्भव नहीं है। इन पर अन्यत्र कुछ विचार किया गया है, विशेषतः **"तात्त्विकं स्वरूपं वेदस्य"** में जो *'सारस्वतीसुषमा'* में प्रकाशित है। किन्तु वैदिक संहिताओं के विषय में एक तथ्य ऐसा है जो किसी सीमा तक स्वामी जी के पक्ष में जाता है। उक्त चार वेदसंहिताओं के प्रतीक अन्य वेद संहिताओं में प्राप्त हैं, किन्तु उनकी इनमें नहीं। सम्भवतः इसीलिए उनका अधिक प्रचार-प्रसार हुआ और वे ही वेदत्वेन विख्यात हुई। आज तो देश-विदेश सर्वत्र वही चार वेद के रूप में गृहीत हैं।

---

1. 7.4.2.40

अध्याय – 5

मूढ़ग्राह का ग्राह

सन् 1857 का विद्रोह आज चाहे जो माना जाय, मूलतः एक सिपाही विद्रोह और अन्ततः रजवाड़ों का विद्रोह मात्र था। कवि, साहित्यकार तथा अन्य बौद्धिक उसकी ओर से सर्वथा उदासीन रहे हैं। जनता ने भी उसका राष्ट्रीय क्रान्ति के अन्यतम प्रयत्न के रूप में स्वागत नहीं किया है। यही कारण है कि विद्रोह के दबा दिये जाने पर भी विशेष कारणों से मुसलमानों को छोड़कर देश के बौद्धिकों और नेताओं में किसी प्रकार की मुर्दनी अथवा अवसाद के दर्शन नहीं होते हैं। दयानन्द के क्रान्तिकारी धार्मिक अभियान उसी समय आरम्भ होते हैं। आर्य-संन्यासी निर्भीकतापूर्वक रद्दी से रद्दी स्वदेशी राज्य की, अच्छे से अच्छे विदेशी राज्य पर वरीयता की घोषणा करता है, लेकिन शायद उसको इसका प्रतिभान था कि देश में आर्य संस्कृति के जीवन्त, महनीय आदर्शों की प्रतिष्ठा के बिना स्वराज्य का स्वप्न साकार नहीं हो सकता है।

भारत की मौलिक संस्कृति आर्य और अनार्य संस्कृतियों में विभक्त दिखायी देती है। बाद में इस द्वैत ने ब्राह्मण (कर्मी), राजन्य (औपनिषद ज्ञानी) और भागवत (भक्त), और श्रमण (बौद्ध, जैन, आजीवक, आदि), के त्रैत का रूप ग्रहण कर लिया था। कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग इसी त्रैत की उपज हैं। पूर्ण हिन्दू समाज दार्शनिक और अदार्शनिक के रूप में भी विभक्त किया जा सकता है। यह सब होते हुए भी यह बात बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है कि यहाँ मूढ़ग्राह (Superstition)। और ज्ञान (Enlightenment) में शायद कभी भी कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं किया गया है। तत्त्ववेत्ता और पामर में धार्मिक विश्वास और व्यवहार के स्तर पर कभी कोई विरोध नहीं हुआ है। तत्त्ववेत्ता सभी मूढ़ग्राहों को स्वीकार करते हुए उन्हें संस्कृति अथवा कम से कम प्राकृत जनों के लिए उपादेय ही बतलाता रहा है। शंकर और रामानुज की कोटि के ब्रह्मज्ञानियों ने भी वेद सुन लेने पर शूद्र के कान में सीसा पिघला देने की व्यवस्था का अनुमोदन किया है। अल्बीरूनी ने इस विशेषता की ओर इंगित करते हुए लिखा है कि भारत में किसी सुकरात का प्रादुर्भाव नहीं हो सका जो मूढ़ग्राहों का डटकर विरोध करने के कारण जनता का कोपभाजन बन जाय। अल्बरूनी की बात शत-प्रतिशत सही दिखायी पड़ती है। राममोहन-दयानन्द-युग के पूर्व सच पूछा जाय तो गम्भीर अर्थ में जनता का कोपभाजन बनने वाला, जनता की श्रद्धा-जड़ता को हिला देने वाला, एक भी बड़ा समाज-सुधारक देखने को नहीं मिलता है। दयानन्द को देखते हुए वस्तुतः बुद्ध को भी कोई क्रान्तिकारी समाज-सुधारक नहीं माना जा सकता है। कबीर, नानक, दादू जैसे कई सन्तों ने इस्लाम के प्रभाव में आकर मूढ़ग्राहों पर चोटें अवश्य की थीं, किन्तु वे हिन्दू धर्म के प्रवक्ता के रूप में नहीं उठे थे

और न वे सुधारवाद को संस्थागत (institutionalise) करने की क्षमता रखते थे। भलीभाँति बातों का बखान तथा कतिपय रूढ़ियों का यदाकदा प्रत्याख्यान एक बात है, उन बातों को जीवन का अंग बना देने की योजना प्रस्तुत करने, धरती में बद्धमूल कर सकने की योग्यता रखने की बात और ही है। नयी जीवन-रचना, नयी संस्कृति की अवतारणा के लिए नये धर्मशास्त्र, नयी शरीअत की उद्‌भावना अपेक्षित है, जो इन सन्तों के बस की बात न थी।

अस्तु, सिद्धान्त के लिए प्राण देने की महनीय परम्परा का यहाँ कहीं पता नहीं है। हिन्दू युग में जो नये सिद्धान्त चले थे वे भी सुधारवादी न होकर एक मूढ़ग्राह को दूसरे मूढ़ग्राह से बदलने वाले ही सिद्ध हुए थे।

वस्तुतः हिन्दू धर्म एक सर्वसह धर्म है। इसमें हर वस्तु के लिए स्थान है, चाहे वह उपादेय हो, हेय हो, अथवा उदासीन हो। यह ग्रहण सब कुछ कर लेता है, त्यागना कुछ भी नहीं चाहता है। इसमें उच्च से उच्च तत्त्व का अधम से अधम तत्त्व के साथ सामञ्जस्य, शान्तिप्रिय और निर्विघ्न सहभाव देखने को मिलता है। बड़ा से बड़ा हिन्दू दार्शनिक जघन्य से जघन्य मूढ़ग्राह के विरुद्ध यही नहीं कि कभी अंगुली नहीं उठाता, उसे आपत्तिजनक नहीं समझता, बल्कि उसे सहज रूप से मान्यता देता पाया जाता है। इस प्रकार अल्बैरूनी के शब्दों में हिन्दू सीप को ठीकरियों, मोती को गोबर अथवा नगीने को प्रस्तर-खण्डों के साथ गपड़चौथ कर देता है। अतः यहाँ की परम्परा में मूढ़ग्राहों और कुरीतियों से जूझकर समाज का संस्कार करने की प्रवृत्ति का प्रायः अभाव ही दिखायी देता है। जो भी सुरीति-कुरीति, सुदृष्टि-कुदृष्टि, एक बार चल गयी वह हिन्दू धर्म का अविभाज्य अंग बन गयी। मेरा एक श्लोक है :–

सुरीतयः, कुरीतयः, सुदृष्टयः, कुदृष्टयः
न सम्भवन्ति चेत् सकृत्, भवन्त्यनश्वरा इह।
विभागतस् तथा पुनर् द्वयोश्च च सत्यासत्ययोः
परस्परप्रभेदतो द्विधाऽस्य व्यक्तिताऽजनि।।

वस्तुतः भारतीय मनीषा सदा से मूढ़ग्राहों के साथ समझौता करती आयी है। अपने **"तर्जुमानुल्कुरआन"**[1] में मौलाना अबुकलाम आज़ाद ने बड़ी सुन्दर बात कही है, "यहाँ फ़िक्र व अक़ीदा की कोई बलन्दी भी वहम व जेहालत की गिरावट से अपने आपको महफ़ूज़ न रख सकी, और इल्म व अक़्ल और वहम व जेहल (मूढ़ग्राह) में हमेशा समझौते का सिलसिला जारी रहा। इन समझौतों ने हिन्दुस्तानी दिमाग़ की शक्ल व सूरत बिगाड़ दी। उसकी फ़िक्री तरक़्क़ियों का तमाम हुस्न अस्नायी (प्रतिमोपासना-सम्बन्धी) अक़ीदों के गर्द व गुबार में छिप गया।" अस्तु, इस प्रकार यहाँ के सूर्य पर सदा मूढ़ग्राह के बादल छाये रहे, सत्य और मूढ़ग्राह में विवेक की शक्ति जाती रही, मूढ़ग्राह आगे हो गया और सत्य पीछे। यहाँ "ग्रेशम-नियम" की भी चर्चा की जाती है। धर्म में जब उपदेश और हेय तत्त्वों का समन्वय होता है तो हेय तत्त्व उपादेय तत्त्वों को खदेड़ देते हैं, जैसे खोटा सिक्का खरे सिक्के को बाज़ार से खदेड़ देता है।

---

1. पृ. 170

हिन्दू धर्म की दृष्टि से परमार्थ और व्यवहार में तात्त्विक-मौलिक भेद है। जो परमार्थतः हेय है वह व्यवहारतः उपादेय हो सकता है। किन्तु हिन्दू प्रतिभा परमार्थ और व्यवहार में कभी सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर सकी, परमार्थ और व्यवहार के समन्वित न हो सकने वाले द्वेष ने यहाँ द्विविध व्यक्तित्व (Double personality) की मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक व्याधि को जन्म दिया। पारमार्थिक व्यक्तित्व और व्यावहारिक व्यक्तित्व में दूर का भी सम्बन्ध नहीं, बल्कि दोनों में प्रचण्ड विसंगति की स्थिति है, किन्तु यहाँ परमार्थ कभी व्यवहार के मार्ग में बाधक नहीं हुआ। उर्दू के प्रसिद्ध शायर मीर के सम्बन्ध में किसी की उक्ति है– "बलन्दश बग़ायत बलन्द व पुस्तश बग़ावत पस्त", अर्थात् मीर अपनी उत्कृष्टता में उत्कृष्टतम हैं और निकृष्टता में निकृष्टतम। ठीक यही बात हिन्दू धर्म के विषय में भी लागू होती है।

वस्तुतः परमार्थ के व्यवहार से इस प्रकार कटा होने के कारण हिन्दू के अन्तर्जगत् के व्यापार बहिर्जगत् की भावनाओं का रूप लेने में असमर्थ रहे, हिन्दू इतिहास में उतनी बड़ी और विशिष्ट भूमिका नहीं ग्रहण कर सका जितनी उससे सम्भव और प्रत्याशित थी।

अस्तु, भारत में मूढ़ग्राहों का उच्छेद करने की दृष्टि से सिद्धान्तों की काट–छांट कम ही दिखायी पड़ती है। यहाँ खण्डन-मण्डन तो बहुत है– इतना कि संसार के किसी धर्म में देखने को नहीं मिलता है– किन्तु यह सब या तो अकादमीय दृष्टि से या साम्प्रदायिक दृष्टि से हुआ है, एक मूढ़ग्राह को प्रायः अन्य मूढ़ग्राह में बदलते हुए। यहाँ मूढ़ग्राह को मूढ़ग्राहत्वेन बहुत कम लिया गया है। विधवा-विवाह, जातिवाद, सती प्रथा, स्त्रियों और शूद्रों के साथ दुर्व्यवहार, मन्दिरों-तीर्थों के अनाचार आदि कितनी ही कुरीतियाँ आधुनिक काल तक चलती चली आती हैं, किस बुद्ध, किस बोधिसत्त्व, किस तीर्थङ्कर, किस नागार्जुन, किस चाणक्य, किस शंकर, किस रामानुज, किस कुमारिल, किस उदयन ने इनके विरुद्ध एक बार भी आवाज़ उठायी थी।

कतिपय मूढ़ग्राहों के विरुद्ध कपिल और कृष्ण ने आवाज़ उठायी होगी, ऐसा प्रतीत होता है। दोनों ने रुधिर-यज्ञ तथा अन्य वैदिक कर्म-काण्ड का विरोध किया, और बस। चार्वाकों ने धर्म-कर्म को सदा के लिए विदा कर दिया, किन्तु सामाजिक कुरीतियों से उन्होंने कहाँ तक लोहा लिया, यह कौन जाने। बुद्ध ने समाज की कई रूढ़ धारणाओं में आमूल-चूल क्रान्ति अवश्य कर दी थी, जिससे नये धर्म और दर्शन के अनन्त पौधे लहलहा उठे, किन्तु सामाजिक न्याय की स्थापना पर उनका विशेष ध्यान नहीं गया– वे तो स्त्रियों के सम्बन्ध में उतने भी उदार नहीं सिद्ध हुए जितने कि वैदिक शास्त्रकार दिखायी देते हैं। फिर भी उन्होंने जन्मना वर्ण-व्यवस्था और कतिपय धार्मिक-दार्शनिक मान्यताओं पर गम्भीर प्रश्न-चिह्न लगा दिये थे, और उनके स्थान पर सर्वसाधारण को वस्तुतः कुछ भी नहीं दिया था। बुद्ध ने समाज की कुरीतियों, कुरूढ़ियों और कुगतियों को निशाना नहीं बनाया। उनकी क्रान्ति सामाजिक नहीं, एक प्रकार से मात्र आध्यात्मिक क्रान्ति थी। अतः सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा में वह विशेष योग नहीं दे सके।

बुद्धोत्तर हिन्दूकाल में इतना कुछ भी नहीं हुआ, कोई समाज का संस्कर्ता उत्पन्न ही नहीं हुआ। मुसलमानों के आगमन के बाद अवश्य कबीर, नानक तथा अन्य सन्तों के हाथों समाज–सुधार में किञ्चित् योगदान हुआ, किन्तु इसका कारण इस्लाम का प्रभाव था। अतः इन्हें हिन्दू-परम्परा के प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता है। हिन्दू परम्परा के प्रतिनिधि सन्तों ने तो उतना

भी नहीं किया था। इसके अतिरिक्त सन्तों की परम्परा ने जाने-अनजाने नये मूढ़ग्राहों को भी जन्म दिया था और विद्या प्रेम के स्थान पर अन्धश्रद्धा का प्रसार किया था।

दयानन्द कुरीतियों-कुधर्मों के खण्डन में मूसा और मुहम्मद के शब्दों से भी कड़े शब्दों का प्रयोग कर जाते, जिसके कारण उनकी जान सदा ख़तरे में रहती थी, किन्तु उनकी निर्भीकता, सत्याग्रहशीलता की यह दशा थी कि उनके चेहरे पर शिकन तक न आती थी और जिस मार्ग को वे सन्मार्ग समझ लेते थे उससे अणु-मात्र भी नहीं डिगते थे। असत्य और मूढ़ग्राह से समझौते का विचार तो उन्हें स्वप्न में भी नहीं आ सकता था। इसे देखते हुए कहा जा सकता है कि, शायद राममोहन राय को छोड़कर, इस स्तर का एक भी व्यक्तित्व भारत-भूमि पर अवतरित नहीं हुआ है। उनके देहावसान पर मादाम ब्लेवात्सकी (थियोसाफ़िकल सोसायटी की प्रवर्तिका) ने लिखा था– (दिनकर का अनुवाद) "जनसमूह के उबलते हुए क्रोध के सामने कोई संगमरमर की मूर्ति भी स्वामी जी से अधिक अडिग नहीं हो सकती थी। एक बार हमने उन्हें काम करते देखा था। उन्होंने अपने सभी विश्वासी अनुयायियों को यह कहकर अलग हटा दिया था कि तुम्हें हमारी रक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। भीड़ के सामने वे अकेले ही खड़े हो गये। लोग उतावले हो रहे थे, क्रुद्ध सिंह के समान वे स्वामी जी पर टूट पड़ने को तैयार थे, किन्तु स्वामी जी की धीरता ज्यों की त्यों बनी रही। ....यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामी जी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता; तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो। मादाम ब्लैवात्सकी का पूर्ण वक्तव्य उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :–

'At Banaras, a worshipper of Shiva, feeling sure that his cobra would at once make an end of the offender's life, triumphantly exclaimed : 'Let the God Vishnu (the snake God) himself show which of us is right !'

"Dayanand jerked off the cobra twisting round his leg and with a single vigorous movement crushed the reptile's head, 'Let him do so', he quietly asserted, 'your God had been too slow. It is I who have decided the dispute. Now go', added he, addressing the crowd,' and tell every one how I easily perish all false gods.' Truly a marble statue could not be less moved by the raging wrath of the crowd. We saw him once at work. He sent away all his faithful followers, and forbade them either to watch over him or to defend him, and stood alone before the infuriated crowd, facing calmly the monster, ready to spring upon him and tear him to pieces."

"It is perfectly certain that India never saw a more learned Sanskrit scholar, a deeper metaphysician, a more wonderful writer, and a more fearless denunciator of any evil, than Dayanand, since the time of Saṇkaracharya."[2]

यह है रिपोर्ट और ये हैं उदगार उस विश्वप्रसिद्ध महिला के जिसका और जिसकी

2. एच. पी. ब्लैवेट्स्की, The **"Caves and Jungles of Hindustan, A Homage to Swami Dayanand Saraswati from India & the World"** or ***"Dayanand Commemoration Volume"***, हरबिलास शारदा, सं. (अजमेर, 1933) पृ. 335 में उद्धृत

अन्तर्राष्ट्रीय संस्था (Theosophical Society) का स्वामी जी से गहरा मतभेद हो गया था। आधुनिक युग के इस सबसे बड़े हिन्दू की मृत्यु पर आधुनिक युग के सबसे बड़े मुसलमान सर सैय्यद अहमद खां के उद्‌गार कितने सटीक हैं :

"निहायत अफ़सोस की बात है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती साहेब ने जो ज़बाने संस्कृत के बहुत बड़े आलिम और वेद के बहुत बड़े मुहक्क़िक़ थे 31 अक्टूबर 1883 ई. को 6 बजे शाम को अजमेर में इन्तिक़ाल किया। अलावा इल्म व फ़ज़ल के निहायत नेक और दुर्वेशतब्म आदमी थे। उनके मोतीक़द उनको देवता जानते थे और बेशुब्हः इसी लायक थे। हिन्दू मज़हब में बहुत कुछ रिफ़ार्म किया था.....हमसे और स्वामी दयानन्द सरस्वती मरहूम से बहुत मुलाकात थी। हम हमेशा उनका निहायत अदब करते थे, क्योंकि ऐसे आलिम और उम्दा शख़्स थे कि हर मज़हब वाले को उनका अदब लाज़िम था।.......ऐसे शख़्स थे जिनका मिस्ल इस वक्त हिन्दुस्तान में मौजूद नहीं है। और हर शख़्स को उनकी वफ़ात का ग़म करना लाज़िम है कि ऐसा बेनज़ीर शख़्स उनके दर्मियान से जाता रहा।"[3] हाँ, तब तक **"सत्यार्थप्रकाश"** में 13वां और 14वां समुल्लास नहीं जुड़े थे।

आधुनिक काल में राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, आदि महान् समाज–संस्कर्ता के रूप में सामने आते हैं। राममोहन राय पर ईसाई धर्म का प्रभाव था, कई यूरोपीय भाषाओं के वह पण्डित थे, संस्कृत, फ़ारसी और अरबी के भी उच्च कोटि के विद्वान् थे। उनमें तुलनात्मक दृष्टि विकसित हुई, और वह व्यापक समाज-सुधार के प्रवर्तक हुए।

राममोहन राय के बाद दयानन्द का अवतार होता है। यह गुजराती ब्राह्मण विलक्षण व्यक्तित्व का धनी था। अंग्रेज़ी तो दूर, मातृभाषा और संस्कृत के अतिरिक्त कोई भाषा नहीं जानता था, हिन्दी बाद में सीखी। किन्तु उसके सुधारवादी अभियान ने भारत में एक भूकम्प ला दिया था। उसकी शिक्षा-दीक्षा प्राचीनतम पद्धति–पाणिनीय–पद्धति से हुई थी, किन्तु विचार और व्यवहार में वह राममोहन और सर सैय्यद के साथ युग का सबसे आधुनिक मानव था। कबीर और नानक जैसे सन्तों में जो समाज-सुधार की प्रवृत्ति दिखायी देती है वह प्रायः इस्लाम के प्रभाव के कारण है, किन्तु दयानन्द में ऐसी कोई बात नहीं थी। वह विशुद्ध हिन्दू चिन्तनधारा और हिन्दू संस्कृति के उपज थे। उन्हें आरम्भ में मुस्लिम और ईसाई संस्कृतियों का भी कोई साक्षात् परिचय नहीं था। अंग्रेज़ी सभ्यता ऐसे व्यक्तियों में आक्रोश की भावना उत्पन्न करती ही है, तथापि दयानन्द की समता का क्रान्तिकारी सुधारक अब तक हिन्दू समाज में नहीं पैदा हुआ। यह कह दिया जाय कि विवेकानन्द और राधाकृष्णन्, गाँधी और अरविन्द जैसे समसामयिक, पश्चिमी संस्कृत में दीक्षा प्राप्त विचारक भी हिन्दू मूढ़ग्राहों से कभी लोहा नहीं ले सका। ये देखते हुए दयानन्द एक दिव्य मानव प्रतीत होते हैं और हिन्दू परम्परा में एक चमत्कार (Fluke)।

---

3. अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गज़ट, खण्ड 18 ए, अंक 7 (9 नवम्बर 1883) पृष्ठ 1298

अध्याय – 6

शक्तिपात

हिन्दू जाति की समन्वय-दृष्टि और सर्वसङ्ग्राहक प्रवृत्ति का बहुत विरुदगान किया गया है, किन्तु यह दृष्टि अथवा यह प्रवृत्ति कितनी स्वस्थ है इस पर बहुत कम विचार हुआ है। अल्बैरुनी ने इस ओर कुछ इंगित किया है। हमारे युग में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने अपने कुर्आन-भाष्य में इस सम्बन्ध में बड़े पते की बातें कही हैं। उन्होंने बतलाया है कि हिन्दू की सर्वसहिष्णुता और सर्वसहत्त्व के पीछे उसका सिद्धान्त-दौर्बल्य कार्यशील रहा है। इस सिद्धान्त-दौर्बल्य के कारण उसकी सदसद्-विवेकिनी बुद्धि दुर्बल होती गयी। फलतः हिन्दू जाति ग्रहण तो सब कुछ कर लेती है, चाहे वह चीज़ भली हो अथवा बुरी, किन्तु वह कोई तत्त्व त्याग नहीं सकती, चाहे उसके कारण उसकी कितनी ही बड़ी क्षति क्यों न हो रही हो। ऐसी जाति चूँ-चूँ का मुरब्बा होकर रह जाती है और विश्व के रङ्गमञ्च पर कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं ग्रहण कर पाती है। दयानन्द ने हिन्दू जाति की इस आन्तरिक दुर्बलता को लक्षित कर लिया था और उसे सबल सिद्धान्तवादी बना डालने की धुन में उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था।

जातीय संश्लेषण-सङ्ग्रन्थन का कार्य हिन्दू जाति को असङ्ख्य सम्प्रदायों के दलदल से निकाले बिना नहीं हो सकता था। अति प्राचीन सम्प्रदाय प्रायः प्रस्थान-भेद और अधिकार-भेद पर आश्रित पांये जाते हैं, जिनमें वैमनस्य विरल था। हिन्दू सम्प्रदायों का प्रवर्तन अधिकतर व्यक्ति पूजा पर आश्रित रहा है। उनके पीछे ठोस सैद्धान्तिक आधार का अधिकतर अभाव ही दिखाई देता है। ईसोत्तर भारत अर्थात् हिन्दू भारत में दर्शन-प्रवर्तन भी अधिकतर विजीगीषा-विखण्डयिषामूलक ही रहा है। सत्यान्वेषण की उदात्त भावना से प्रेरित होकर धार्मिक अथवा दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रवर्तन की आवश्यकता अनुभव करने वाले कम ही हुए हैं। इतनी समृद्धिशाली परम्परा में सम्प्रदाय–प्रवर्तन का औचित्य वहीं हो सकता है, जहाँ कोई अपनी पूरी धार्मिक-दार्शनिक थाती का सम्यक् सर्वेक्षण करने के बाद किसी नये मार्ग की बदलती आवश्यकता अनुभव करे। अन्यथा पल्लवग्राही धर्माचार्यों द्वारा सम्प्रदाय-प्रवर्तन का कोई औचित्य नहीं है। विवेकानन्द ने लिखा था कि सम्प्रदायों की बाढ़ से घबराना नहीं चाहिए और उस दिन की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग सम्प्रदाय होगा, ताकि धर्म एकदम व्यक्तिगत मामला बनकर रह जाये। यह आदर्श यूँ तो बहुत आकर्षक लगता है, किन्तु है विचारासह। पहली बात जो इसके विरुद्ध जाती है वह यह है कि सम्प्रदायिकता इस रूप में परिणत हो ही नहीं सकती है। दूसरी बात यह है कि जिस समाज में धार्मिक एकता इतनी छिन्न-भिन्न होगी वह कोई महान् धार्मिक-सांस्कृतिक अनुष्ठान करने

में असमर्थ होगा। तीसरी बात यह है कि मार्मिक से मार्मिक विचार पङ्गु होता है जब तक कि वह समाज में रूढ़ अथवा बद्धमूल न हो जाय, वह संस्थाबद्ध न हो जाय। वस्तुतः अन्तजर्गत् के व्यापार जब तक बहिर्जगत् की घटनाओं का रूप नहीं लेते, जब तक बहिर्जगत् में घटित नहीं हो जाते, तब तक वे अकिञ्चित् रहते हैं। अस्तु, दयानन्द ने हिन्दू जाति में एकता और प्रभविष्णुता के आधार के लिए सम्प्रदायों की बाढ़ को रोकने का जितना प्रयत्न किया है उतना इस देश में शायद ही कभी किसी ने किया हो। पूर्ववर्ती दार्शनिकों और धर्माचार्यों की सम्प्रदायोन्मूलन में वैसी रुचि नहीं थी। वे एक ओर अधिकार-भेद को पराकाष्ठा तक ले जाते हुए सब कुछ सहन करने को तैयार थे तो दूसरी ओर भारत में हाहाकार मचाने वाले धर्मों से जाति की रक्षा की भी आवश्यकता नहीं समझते थे, किन्तु दयानन्द में यह बात नहीं थी। उन्होंने सम्प्रदायों के उन्मूलन के लिए शास्त्रार्थों की धूम मचा दी थी। खेद है कि उनके इस कार्य का यथोचित मूल्याङ्कन नहीं किया जा सका है।

अध्याय – 7

आक्रामक हिन्दुत्व

हिन्दू धर्म की गणना एक स्थितिस्थापक, अगतिशील (Passive) धर्म के रूप में होती है। यह एक अप्रसरणशील धर्म था जो दूसरों की मार ही सह सकता था, किसी स्तर पर आक्रान्त बनने की शक्ति इसमें थी ही नहीं। दयानन्द ने इतिहास में प्रथम बार हिन्दू धर्म को एक प्रगतिशील (active) और आक्रमण में क्षम धर्म का रूप देने की चेष्टा की थी। उनके प्रादुर्भाव के पूर्व हिन्दुओं की दशा बड़ी ही दयनीय थी। हिन्दू पर हर प्रकार के अत्याचार अन्यों द्वारा किये जाते थे और वह अपने को एकदम असहाय पाता था। संघटन-सङ्ग्रन्थन का उसे कोई अनुभव नहीं था। दयानन्द प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दू सङ्घटन-सङ्ग्रन्थन की नींव डाली। हिन्दुओं पर अन्य धर्मों की ओर से सदा आक्षेप हुआ करते थे, जिनका उत्तर किसी के पास नहीं था। हिन्दू धर्म एक सर्वसङ्ग्रही धर्म है। जहाँ तक आचार-विचार का प्रश्न है, यह ग्रहण करना ही जानता है, त्यागना नहीं। फलतः इसमें सड़े-गले तत्त्वों की दिनानुदिन वृद्धि होती गयी। दयानन्द के पूर्व कोई ऐसा नहीं हुआ जो इसमें काट-छांट करके इसे एक सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत रूप दे सकता। दयानन्द पहले महानुभाव हैं जिन्होंने किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की प्रतिष्ठापना के चक्कर में न पड़ पूरे धर्म, पूरी जाति, को शोधने में प्राणों की बाज़ी लगा दी थी। अपनी इस विशेषता के कारण वह इस्लाम और ईसाइयत की ओर से आने वाले आक्षेपों की बाढ़ का डटकर मुकाबला कर सके। यह एक सुविदित तथ्य है कि कई पढ़े-लिखे हिन्दू ईसाइयों की ओर से होने वाले आक्षेपों का उत्तर न दे सकने के कारण ईसाई बन गये। अनन्तराम नामक हिन्दू 1848 में ओबेदुल्लाह बनकर हिन्दुओं के विरुद्ध ***"तोह्फ़तुल हिन्द"*** नाम की पुस्तक लिख गया। उसका मुंशी इन्द्रमणि जैसे अप्रतिम हिन्दू विद्वान् से टकराव भी हुआ था, किन्तु वह परास्त नहीं किया जा सका था। दयानन्द के प्रताप से हिन्दू जाति में पहली बार एक व्यापक पैमाने पर आत्मविश्वास का सञ्चार हुआ और हिन्दू यही नहीं कि मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से हो रहे आक्रमण का उत्तर देने के लिए सन्नद्ध हो गया अपितु उन पर अपनी ओर से सीधे प्रहार करने की स्थिति में भी हो गया। पं. चमूपति ने इस स्थिति का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है– "आर्य समाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरुदण्ड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई गाली दे, उसकी हँसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्स्ना करे, या उसके धर्म पर कीचड़ उछाले जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिर भी इन सारे अपमानों के सामने वह दांत निपोर कर रह जाता था। लोगों को यह उचित शङ्का हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं, अथवा वह गुस्से में

आकर प्रतिपक्षी की ओर घूर भी सकता है या नहीं। किन्तु आर्य समाज के उदय के बाद, अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गयी।[1]

हिन्दू जाति में व्रत-बोध (sense of mission) की कमी सदा से रही है। पूरी जाति का कभी कोई निश्चित व्रत, निश्चित लक्ष्य नहीं रहा। अतः वह विश्व इतिहास में उतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं ग्रहण कर सकी जिसके लिए वह अन्यथा अधिकारिणी थी। दयानन्द प्रथम हिन्दू थे, जिन्होंने इस कमी को लक्षित किया और आर्य जाति की व्रत-भावना, **"कृण्वन्ती विश्वमार्यम्"** की ओर उसका ध्यान आकृष्ट कर उसे व्रती बनाने का अभूतपूर्व कार्य किया। यद्यपि इस वेदमन्त्रांश का मूल अर्थ कुछ और ही है। यह दूसरी बात है कि उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। मुस्लिम अत्याचारों का प्रतिरोध करने के स्थान पर हमारी पुरुषार्थहीन जाति देवी-देवताओं की गुहार करने लगी–

"म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेपु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर् मम।।
गङ्गादितीर्थवर्य्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर् मम।।[2]

उर्दू कवि कहता है–

यह मिस्रा लिख दिया किस श्लोक ने
मिहराबे मस्जिद पर
ये नादां गिर गये सज्दे में
जब वक़्ते क़ियाम आया

---

1. The Hindu at the time of the advent of the Arya Samaj, was a week-kneed creature. He miserably lacked the backbone. You might revile him, ridicule him, caluminate the gods he worshipped, throw mud on the faith he has idolised for centuries, yet he would manifest in the face of all this humiliating vilification an attitude undisturbably supine which would make one doubt whether he was a living being with power to feel and, if need be, to turn round. (Chamupati, 'The Arya Samaj', *The Cultural Heritage of India"*, ed. & pub. by Sri Ram Krishna Centenary Committee, Vol. II, Calcutta, n.d., p.423)
2. वल्लभ, श्रीकृष्णाश्रयकाव्यम्, 2–5, *वल्लभगीता*, पृ. 47–48

अध्याय – 8

तुलनात्मक धर्म–धारा

विशुद्ध हिन्दू परम्परा में केवल दयानन्द का कृतित्व ऐसा है जो सब धर्मों की तुलना करते हुए हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता-गरिमा का डिण्डिम-घोष करता है। ईसाई पादरी, लोगों के घरों में पहुँचकर हिन्दू धर्म का खण्डन किया करते थे। दयानन्द की विलक्षण प्रतिभा का चमत्कार देखिये कि हिन्दू उन्हें खुलकर चुनौती देने और रगड़ने लगा। कुछ ही दिनों के बाद यह स्थिति आ गयी कि ईसाइयों में और मुसलमानों में भी हिन्दू पण्डितों को छेड़ने की ताब जाती रही।

दयानन्द भारत में तुलनात्मक धर्मविधा के प्रथम प्रवर्तक माने जाने चाहिये। धर्मों-सम्प्रदायों की कूपमण्डूकता पर इतना सबल वज्रप्रहार संसार के किसी महापुरुष ने नहीं किया होगा। धर्म-पुरुषों में बुद्ध के बाद स्वामी दयानन्द की यह विशुद्ध अपनी विशेषता है कि उन्होंने धर्म के ग्रहण और त्याग में आँख और कान खुले रखकर चलने की चेतावनी दी। विवेकानन्द ने तो यह गुर पश्चिम से लिया था। यह एक विचित्र सी बात है कि हिन्दुओं का सम्पर्क मुसलमानों के साथ हज़ार-बारह सौ वर्ष पुराना है, किन्तु उन्होंने मुस्लिम धर्म और दर्शन में दयानन्द युग के पूर्व कभी कोई रुचि नहीं ली। हमारे दार्शनिक पण्डितों ने चार्वाक, बौद्ध और जैन सबकी यथेष्ट आलोचना की, किन्तु इस्लाम की आलोचना-प्रत्यालोचना की ओर उनका ध्यान कभी गया ही नहीं। अपने को हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों से परे अथवा दोनों का सङ्गम अथवा स्पष्ट रूप से मुस्लिमभावापन्न सन्तों की बात और है। विशुद्ध हिन्दू परम्परा के प्रतिनिधि धर्माचार्यों में दयानन्द प्रथम, बल्कि कहना चाहिए कि प्रथम और अन्तिम, व्यक्ति हैं जिन्होंने इस्लाम और ईसाइयों का भी यथाशक्ति अनुशीलन-परिशीलन-पर्यालोचन किया और उसमें अपने सिद्धान्तों को व्यवस्थित करने में लाभ भी उठाया। मुक्ति से पुनरावृत्ति का सिद्धान्त, जहाँ तक मुझे पता है, मिर्ज़ा गुलाम अहमद क़ादियानी की चुनौतियों का परिणाम था।

उनके पूर्व शास्त्रार्थों की दशा भी शोचनीय हो गयी थी। शास्त्रार्थ विशुद्ध मल्ल युद्ध और वागाडम्बर का रूप धारण कर चुके थे। खोखला पाण्डित्य-प्रदर्शन शास्त्रार्थों की एकमात्र विशेषता रह गयी थी। दार्शनिक शास्त्रार्थों में भी पिटी-पिटायी, रटी-रटायी एकांगी शैली का ही दौर-दौरा था। हिन्दू पण्डित हिन्दुओं में और अहिन्दू अहिन्दुओं में ही शास्त्रार्थ करते थे। सबको हिन्दुओं पर कीचड़ उछालने की खुली छूट थी। हिन्दुओं और अहिन्दुओं में एक दूसरे की धर्म-पुस्तकों का सर्वेक्षण कर सदसद्विवेक के उद्देश्य से शास्त्रार्थ करने की परम्परा की बुनियाद ही नहीं पड़ी थी।

दयानन्द ने सभी धर्मों की दिव्य पुस्तकों का यथासाध्य अनुशीलन-आलोचन किया और सत्यार्थ की खोज की दृष्टि से शास्त्रार्थों की धूम मचायी। हिन्दू जाति प्रायः एक कल्पनोपजीवी जाति है, यह प्रयोगों-परीक्षणों की अपेक्षा कल्पना की उड़ान भरने की ओर अधिक प्रवृत्त रहती है। फलतः यहाँ प्रयोगात्मक-परीक्षणात्मक विज्ञान का विकास नहीं हो सका। यहाँ उत्तरकुरुओं की बड़ी चर्चा रही है, यद्यपि उत्तरकुरुओं का साक्षात् परिचय प्राप्त करने की लालसा हमारे पण्डितों में शायद ही कभी हुई है। यौगिक सिद्धियों का हमारे यहाँ बड़ा बखान है और योग हमारे विचारकों के हाथ में एक ऐसा चमत्कारी हथियार रहा है जिसकी दुहाई देकर वे अपनी हर समझ में न आने वाली बात का पोषण करते रहे हैं। योग हमारे बौद्धिक प्रमाद का सबसे बड़ा कारण बन गया था, बल्कि अभी भी है। हमने कभी विधिवत् प्रयोग द्वारा यह देखने-दिखाने की चेष्टा नहीं की कि वास्तव में योग-सम्बन्धी दावे कहाँ तक साम्प्रत हैं। दयानन्द प्रथम हिन्दू दिखायी देते हैं जिन्होंने हठयोग-साहित्य में उल्लिखित नाड़ी-विज्ञान की जाँच के लिए एक मुर्दे की चीर-फाड़ की और प्रयोग से उक्त विज्ञान के भ्रामक सिद्ध होने पर तत्सम्बन्धी पुस्तकों को नदी में प्रवाहित कर दिया। शंकर के परकाय-प्रवेश से सम्बद्ध किंवदन्ती कहाँ तक सत्य है, ऐसा प्रश्न उठने पर स्वामी जी ने अन्यों के समान झट सकारात्मक उत्तर नहीं दे डाला, बल्कि यह कहा कि वे स्वयं अपनी सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति शरीर के किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित कर सकने की क्षमता रखते हैं और हो सकता है कि कोई अधिक बड़ा योगी उसे अपने शरीर से निकालकर दूसरे शरीर तक भी ले जा सके।

अध्याय – 9

मूर्ति की माया

दयानन्द का बौद्धिक साहस अदम्य था। वह आधुनिक भारत की सबसे साहसपूर्ण प्रतिभा के रूप में हमारे सामने आये हैं। उनका त्रैतवाद, मुक्ति से पुनरावृत्ति का सिद्धान्त, ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेदत्व से ख़ारिज करना, पुराणों को धर्म की दृष्टि से अप्रमाण मानना, अवतार-खण्डन, मृतकश्राद्ध-खण्डन, जन्मना जातिवाद का खण्डन और उसके स्थान पर कर्मणा वर्णवाद की प्रतिष्ठापना उनके बौद्धिक साहस और मौलिक दृष्टिभंगी के ज्वलन्त उदाहरण हैं। मूर्तिपूजा पर इतना ज़बरदस्त बौद्धिक प्रहार संसार में कभी नहीं देखा गया था। इस्लाम अपने को सबसे बड़ा मूर्ति-भञ्जक घोषित करता फिरता है, किन्तु मुहम्मद से लेकर मौदूदी तक इस्लाम की ओर से एक भी प्रमाण-पुरस्सर ग्रन्थ मूर्तिपूजा के खण्डन में नहीं लिखा गया। दयानन्द की प्रतिभा मूर्तिपूजा के इतने सशक्त खण्डन की दृष्टि से संसार के इतिहास में बेजोड़ है। विशुद्ध हिन्दू-परम्परा में तो मूर्तिपूजा का विरोध करने वाली एक भी प्रतिभा के दर्शन नहीं होते, यद्यपि हमारे शास्त्रों में कहीं-कहीं मूर्तिपूजा को निकृष्ट कोटि की पूजा अवश्य बतलाया गया है– निकृष्ट कोटि की पूजा अर्थात् निम्न कोटि के उपासकों के लिए ही आवश्यक पूजा-विधि।

मूर्ति-पूजा वैसे तो एक सीधी-सादी वस्तु लगती है। निराकार के ध्यान का अभ्यास बिना किसी दृश्य आलम्बन के कैसे करें, यह प्रश्न सबके मन में उठता है और इस दृष्टि से मूर्तिपूजा का औचित्य सिद्ध भी हो सकता है। व्यवहार से परे रहकर शुद्ध शास्त्रीय (academic) दृष्टि से तो इस विचारणा में कोई दोष दिखायी नहीं देता, किन्तु क्या इतनी सी बात दयानन्द के ध्यान में नहीं आयी। व्यवहार में मूर्तिपूजा सभी प्रकार के धार्मिक अनाचारों की जननी दिखायी देती है। पण्डों और पुजारियों के कुख्यात बीभत्स काण्डों के पीछे मूर्तिपूजा का ही हाथ दिखायी देता है। आरम्भ में तो मूर्ति को ध्यान का आलम्बन मानकर चला जा सकता है, किन्तु कालक्रम से मूर्ति देवता का एकदम स्थान ले लेती है और उसे हम आलम्बन अथवा प्रतीक रूप में नहीं साक्षात् देवता के रूप में मानकर अनेक मूर्खताओं के जाल में फँस जाते हैं। वस्तुतः केवल ध्यान-सौकर्य के लिए मूर्ति का प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता है, योग-साधना के लिए भी नहीं। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की अर्चावतार-कल्पना से स्पष्ट हो जाता है कि मूर्ति केवल ध्यान का आलम्बन नहीं, साक्षात् देवता हैं। यह कथन भी अत्युक्तिपूर्ण है कि मूर्तिपूजा ही जनसाधारण के लिए ध्यान और उपासना का घर खोलती है। सामी धर्म– यहूदी, ईसाई और इस्लाम– इस धारणा के लिए स्थायी चुनौती हैं। यह कोई तर्क नहीं कि वेद आदि में पुरुषविध देवताओं की कल्पना का प्राचुर्य है। यह्व, गाड और

अल्लाह भी साकार ही कल्पित हैं, तथापि यहूदी, ईसाई और मुसलमान मूर्तिपूजक नहीं हैं। हमारे मन्दिर या तो व्यवसाय केन्द्र हैं या धूर्त पण्डों-पुजारियों के अड्डे। कौन सा कुकर्म वहाँ नहीं होता है ? ज़रा मस्जिदों और गिरजाघरों से तुलना तो करके देखिये कि वास्तविक ध्यान-भूमि, वास्तविक उपासना-भूमि क्या होती है। हमारे तो देवता भी चोरी जाने लगे हैं, देवपूजको-देवलकों के ही हाथों। मन्दिरों, मठों और तीर्थों ने हिन्दू धर्म को जितना विकृत किया है उतना शायद ही उसकी किसी अन्य संस्था ने किया हो। वस्तुतः तुरुष्क-मुग़ल युग में मन्दिरों और मूर्तियों के ध्वंस से जनित अवसाद और अपने उपास्यों की दुर्दशा से उत्पन्न अनास्था ने हिन्दू जाति की कमर तोड़कर रख दी थी। दयानन्द में इस तथ्य की उत्कट चेतना थी। अतः उनका मूर्तिपूजा-खण्डन एक सर्वथा सामयिक और सार्थक घटना रही है।

वैदिक संहिताओं में मूर्तिपूजा है अथवा नहीं, इस पर एक दृष्टि से तो विवाद की गुंजाइश ही नहीं है। वेद-संहिताओं, प्राचीन ब्राह्मणों, प्राचीन आरण्यकों, प्राचीन उपनिषदों, प्राचीन कल्प-सूत्रों में कहीं भी मन्दिर-निर्माण, मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा, मूर्ति पर पत्र, पुष्प, तोय, नैवेद्य चढ़ाने, मूर्ति को दीप दिखाने आदि का प्रसङ्ग नहीं आता है। वस्तुतः वैदिक परम्परा के ही ईरानी संस्करण अवेस्ता में भी मूर्तिपूजा का विधान नहीं है। यूनानियों के सम्पर्क से ईरान में जब मूर्तिपूजा का प्रचार हुआ तब राज्य-सत्ता ने कितनी कड़ाई से उसका उच्छेद किया था, यह इस्फ़िन्दियार की रुस्तम के प्रति गर्वोक्ति से स्पष्ट हो जाता है, जो इस प्रकार है, "मैंने धर्म की रक्षा के लिए कमर बाँधी और पृथ्वी को मूर्तिपूजकों से रिक्त कर दिया"–

नख़ुस्तीं कमर बस्तम अज़ बहे दीं
तिही कर्दम अज़ बुतपरस्ताँ ज़मीं

एक अन्य दृष्टि से वेद और मूर्तिपूजा विषय पर कुछ विशेष कथनीय है, जिसकी ओर पण्डितों का ध्यान शायद ही गया हो। वेद में मूर्तिपूजा है अथवा नहीं, यह प्रश्न वस्तुतः ग़लत तरीक़े से उठाया गया है। यदि वेद में मूर्तिपूजा नहीं है, तो क्या हुआ ? इससे मूर्तिपूजा अवैदिक अथवा वेदविरुद्ध कहाँ होती है ? वेद में तो दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सन्ध्या भी नहीं है, तो सन्ध्या वेदविरुद्ध क्यों नहीं ? और सन्ध्या ही क्यों, स्वामी जी ने "स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश" में अपने लगभग 51 सिद्धान्तों की तालिका दी है। उनमें शायद ही कोई सिद्धान्त मिले जो वेद में दिखलाया जा सके। तो क्यों नहीं उन सबको वेदविरुद्ध मान लिया जाये ?

इसके अतिरिक्त वेद में जड़पूजा तो है ही। जड़पूजा अर्थात् सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, विद्युत्, नक्षत्र, उषा आदि जड़ प्रकृति की पूजा। मूर्तिपूजा जड़पूजा का ही एक भेद है। मूर्तियाँ बनाने की परम्परा वैदिक काल के बाद बढ़ी है और इसीलिए मूर्तिपूजा भी वैदिक काल के बाद बढ़ी है। आरम्भ में ही लिखा जा चुका है कि स्वामी जी पहले देवता, उनकी उपासना, स्वर्ग में उनके निवास की आस्था रखते थे। बाद में भी वह कम से कम नक्षत्रपूजा के समर्थक रहे। वस्तुतः स्वामी जी ने स्वयं *"संस्कारविधि"* में नक्षत्र-पूजा का विधान किया है।

तब काशी के पण्डित दयानन्द की चुनौती का उत्तर क्यों नहीं दे पाये ? इसलिए कि उन्होंने वेद का स्वाध्याय उस प्रकार किया ही नहीं था जिस प्रकार व्याकरण, न्याय आदि का। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी लिखते हैं, "जब सरकार ने संस्कृत विद्या के प्रचार के लिए क्वीन्स कॉलेज खोला तब पादरियों ने शोर मचाया था कि क्रिस्तान सरकार हीदन (अधर्मी) हिन्दुओं के धर्म का प्रचार न करे, इसी से क्वीन्स कॉलेज में व्याकरण, न्याय आदि के पाठन का प्रबन्ध होने पर भी वेद और मीमांसा की गद्दियाँ नहीं स्थापित हुई थीं। काशी का अभाग्य और भारतवर्ष की गवर्नमेण्ट का अभाग्य ! नहीं तो कोई बालशास्त्री या कोई बापूदेव वेदों का भी निकल आता और जो खोजें जर्मनी में हुई हैं वे काशी में होतीं। और न वह समय ही आता जब एक वेदपाठी गुजराती संन्यासी काशी के पण्डितों को खसूचि बनाकर छोड़ जाता।"[1] स्वामी जी का प्रश्न सुनकर काशी के पण्डित आकाश की ओर देखने लगते (खसूचि) अर्थात् बग़लें झांकने लगते।

---

1. ज्वलन्त कुमार शास्त्री, "ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में गुलेरी जी के लेख" *आर्यमित्र*, ऋष्यङ्क, 16 नवम्बर 1987, पृष्ठ 17

अध्याय – 10

राष्ट्र–सङ्कट की संवेदना

अवतारवाद हमारी अकर्मण्यता के लिए सर्वाधिक उत्तरदायी प्रतीत होता है। हम मनुष्य कुछ नहीं कर सकते, हाथ पर हाथ धरे अवतार की प्रतीक्षा करते रहने के सिवा कोई विकल्प नहीं– इस मानसिकता ने हमारे पौरुष की मानो भ्रूण हत्या ही कर दी थी। जब समस्त राष्ट्र तुरुष्काक्रान्त होकर "त्राहि माम्, त्राहि माम्" चिल्ला रहा था, तब वल्लभाचार्य राष्ट्र के पौरुष का आह्वान न करके "कृष्ण एव गतिर्मम" का जाप कर रहे थे। और वह भी सुदर्शन-सन्धायक, गीता-गायक, कृष्ण का नहीं बल्कि गोपी-नीवीबन्धन-मोचक कृष्ण का। धन्य हैं दयानन्द जिन्हें इसकी चेतना हुई कि जाति का उद्धार सुदर्शन-सन्धायक, गीता-गायक, कृष्ण के हाथों ही सम्भव है, नीवीबन्धन-मोचक कृष्ण के हाथों नहीं। तदर्थ उन्होंने *श्रीमद्भागवत* जैसे महत्त्वपूर्ण पुराण को भी कुर्बान कर दिया था। वस्तुतः राष्ट्र और संस्कृति की रक्षा किसी भी पुराण से बड़ी चीज़ है।

वस्तुतः हमारे धर्म ध्वजों को राष्ट्र-सङ्कट का कभी बोध ही नहीं हुआ था। वे जाति को मूढ़ग्राहों की ज़ंजीर में जकड़ते गये, और समूची जाति सहस्र वर्ष पर्यन्त आक्रामकों द्वारा पदाक्रान्त होती रही। यह दयानन्द का ही प्रताप है कि जाति की आँखें इस कटु तथ्य की ओर पहली बार खुलीं और यह हमारे कलियुगी नेताओं का अभिशाप है कि वह पुनः बन्द हो गयी हैं। काश कि वे आज अधखुली भी होतीं।

पुरानी परम्पराओं को सब कुछ समझने वाला पण्डित यह कभी नहीं मान सकता है कि आर्यों का प्रादुर्भाव आर्यावर्त के बाहर हुआ था। आधुनिक शैली के इतिहासकार ही आर्यों को विदेश से आया हुआ मानने के पक्ष में हैं। कितनी विलक्षण बात है कि स्वामी दयानन्द जैसा कट्टर हिन्दू जिसे अंग्रेज़ियत की हवा भी न लगी हो, आर्यों का मूल निवास-स्थान तिब्बत घोषित करता है, यद्यपि साथ ही साथ यह भी मानता है कि भारत में आर्यों के प्रवेश के पूर्व यहाँ कोई अन्य जाति नहीं निवास करती थी।

वस्तुतः दयानन्द की प्रतिभा असाधारण थी। कहा तो यह भी जा सकता है कि ईसोत्तर भारत में उनकी कोटि का प्रस्थान-निर्माता शायद ही कोई अन्य हुआ हो। क्या समाज-शास्त्र, क्या राज्य-शास्त्र, क्या शिक्षा-शास्त्र, क्या धर्म-शास्त्र, सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के चमत्कार दिखलाये थे और एक पुनर्विचारित, सम्पूर्ण जीवन-दर्शन देने का प्रयत्न किया

था। शंकर और रामानुज जैसी क्रान्तिकारिणी प्रतिभाओं ने भी लीक से हटकर एक सर्वसङ्ग्राहक, साङ्गोपाङ्ग जीवन-दर्शन उद्भाषित करने की योग्यता नहीं दिखलायी थी, किन्तु दयानन्द ने जीवन के किसी भी क्षेत्र को अस्पृष्ट नहीं छोड़ा था और सबका जायज़ा लेते हुए हमारे सामने एक अत्यन्त व्यापक प्रस्थान उपस्थित किया था, चाहे उससे कोई कितना भी असहमत हो। उनके किसी-किसी सिद्धान्त को लेकर पूरा का पूरा प्रस्थान उद्भावित हो सकता है, उनका कर्मणा वर्णवाद डॉ. भगवानदास के प्रस्थान का सर्वस्व है। उनके द्वारा प्रस्तावित तथा उनके सुयोग्य अनुयायी स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा कार्यान्वित शिक्षा-शास्त्र आधुनिक भारत का सबसे मौलिक शिक्षा-शास्त्र माना जा सकता है, यद्यपि इसकी सीमायें पर्याप्त प्रखर हैं।

वस्तुतः दयानन्द अपने युग के अत्याधुनिक ही नहीं, शायद सर्वाधिक आधुनिक भारतीय थे, यद्यपि वे आधुनिक भाषाओं और साहित्य से सर्वथा अपरिचित थे। उन्होंने आर्यत्व के सभी सजीव तत्त्वों को आत्मसात् करते हुये आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अनेक सजीव तत्त्वों की स्वयं उद्भावना की थी और स्वतः एक अत्याधुनिक विचारक के रूप में आधुनिकता की प्रगति में योगदान करते रहे थे, आधुनिकता का पथ प्रशस्त करते रहे थे।

आर्यत्व-आर्षत्व की खोज उनका परम लक्ष्य था। वह भारतीय इतिहास के दो कालिक विभाग करते थे, जैमिनि से पूर्व का भारत और उनके बाद का भारत। वे जैमिनि-पूर्व भारत को ही अपना आदर्श मानते थे। अतः आर्यदृष्टि और आर्षदृष्टि के वह सदा हिमायती रहे थे। इतना तो हमें भी प्रतीत होता है कि ईसा के पूर्व के भारत और ईसा के बाद के भारत में कई दृष्टियों से पूर्व और पश्चिम का भेद है। इतना तो सभी मानेंगे कि भारतीय विचारधारा में जो कुछ मौलिक है उसका अधिकांश ईसा पूर्व भारत की देन है, ईसोत्तर भारत में तो उसका प्रपञ्चन-व्याख्यापन ही अधिक हुआ है। इसे देखते हुए ईसा-पूर्व भारत में कोई विशेषता अवश्य होनी चाहिए जो दयानन्द को बरबस आकृष्ट करती रही और अब भी बहुतों को करने लगी है।

अन्त में हम अपने समसामयिकों से ज़ोरदार अपील करके अपनी बात समाप्त करेंगे कि वे दयानन्द जैसी विलक्षण प्रतिभा के योगदान का पुनर्मूल्याङ्कन करते हुए आधुनिक भारत के नवनिर्माण में उनसे प्रेरणा ग्रहण करने का उपक्रम करें। उनके प्रति मेरी अधोलिखित श्रद्धाञ्जलि में भी मेरा साथ दें :–

धृतव्रतो, महाप्राणो, महात्मा, धर्मधूर्वहः।
पुरोधा युगधर्मस्य, ज्योतिःस्तम्भस् तमोयुगे।।
संस्कृतेः प्रतिसंस्कर्ता, ऽद्यतनार्याग्रणीमहान्।
आर्यत्वोद्धारपद्धत्या आद्यद्रष्टा कलौ युगे।।
उच्छ्रयिता पताकां चान्वर्थं पाखण्डखण्डिनीम्।
दयानन्दो मुनिस् तत्त्वो वन्द्यो भारतीयैर् युगे युगे।।
हुतात्मानौ दयानन्द-श्रद्धानन्दौ तु विस्मृतो।
श्रद्धिता राष्ट्रभङ्क्तारो, धिग् धिक् श्रद्धा-विपर्ययम्।।

आर्य सन्मार्ग–सन्दर्शिनी सभा कलकत्ता

22 जनवरी 1881 ई. को सिनेट हाल, राजधानी कलकत्ता में 200 रईसों और 300 चोटी के पण्डितों ने सभा की और उसमें स्वामी दयानन्द की विचारधारा के विरुद्ध निर्णय किया। इसमें पांच प्रश्न रखे गये थे जिनका उत्तर श्रीराम सुब्रह्मण्य शास्त्री ने दिया था। सभा के प्रबन्धक प्रिंसिपल महेशचन्द्र न्यायरत्न थे। उसमें पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति, जीवानन्द विद्यासागर, भुवनचन्द्र तर्करत्न और वृन्दावन के सुदर्शनाचार्य सहित तीन सौ पण्डित सुशोभित थे। यद्यपि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बाबू राजेन्द्र लाल मित्र सभा में नहीं पधारे थे, तथापि उन्होंने सभा की कार्यवाही को ह्वदय से स्वीकार किया था।

कृपाराम स्वामी ने स्वामी दयानन्द को लिखा था कि उक्त प्रश्नों के उत्तर प्रकाशित करें। स्वामी जी ने उन्हें 31 मार्च 1881 को लिखा था कि "कलकत्ते की सभा आदि के साथ हमको लिखने छपवाने का अवकाश नहीं, वेदभाष्य का काम बहुत है। तुमको अवकाश हो लिखो छपवाओ",[1] तथापि सभा को एक लम्बा-चौड़ा उत्तर भेजा गया जो पं० लेखराम कृत जीवनचरित्र हिन्दी पृ. 671-696 में छपा है। इस सम्बन्ध में पं० लेखराम पृष्ठ 678 पर लिखते हैं "समस्त उत्तर और प्रश्न उनके उन प्रत्युत्तरों सहित जो आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द जी की ओर से दिये गये थे पाठकों की भेंट करते हैं।" पं० युधिष्ठिर मीमांसक इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ये उत्तर स्वामी दयानन्द के लिखे हुए हैं। इसकी पुष्टि में मीमांसक जी यह तर्क भी देते हैं कि जो उत्तर दिये गये हैं वे इतने प्रौढ़ हैं कि उस समय स्वामी जी का कोई भी अनुयायी ऐसा लिख नहीं सकता था। वे उत्तर मीमांसक जी ने ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग के पृष्ठ 863-899 में प्रकाशित कर दिये हैं।

वस्तुतः ये उत्तर अपनी प्रौढ़ता में अपनी समता नहीं रखते हैं, किन्तु उनकी शैली देखकर यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि वे स्वामी जी के लिखे अथवा लिखवाये हो नहीं सकते। शैली नितान्त प्रमाण-पुरस्सर और शालीन है। उसमें उस आक्रोश का कहीं पता नहीं जो स्वामी जी की शैली की विशेषता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों को वेद-भिन्न सिद्ध करते समय कुछ नयी बातें भी कही गयी हैं, जिनका स्वामी जी के लेखन-भाषण में कहीं पता नहीं है, यद्यपि स्वामी जी के मत के प्रतिकूल नहीं हैं। यथा, लेखक का कहना है कि 'वेद के आदि भाष्यकार "ब्रह्मवादी"

---

1. "ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन", द्वितीय भाग, भगवद्दत्त, सं० युधिष्ठिर मीमांसक, परिष्कर्ता एवं परिवर्धक (तृतीय सं. बहालगढ़, रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1981), पृ. 493

कहलाते थे और उन्हीं के नाम पर उनके भाष्यों का नाम ब्राह्मण रखा गया।"[2] दूसरा तर्क "ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मणों के समूह से भी है। आश्चर्य नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थ भी प्रामाणिक ब्राह्मणों के समूह में स्वीकृत होकर प्रकाशित किये गये हों और ब्राह्मणों के नाम से प्रसिद्ध हुए हों।"[3]

उक्त लेख की जो सबसे बड़ी विशेषता है उसकी ओर मीमांसक जी का ध्यान कैसे नहीं गया, यह आश्चर्य का विषय है। जो भी इसे पढ़ेगा उस पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसका रचयिता ऐसा व्यक्ति है जो उर्दू का विद्वान् है और वह भी इस सीमा तक कि उसको रचना पर उर्दू रचना की स्पष्ट छाप है। मौलवियों और उर्दू के पुराने लेखकों का आम मुहावरा है, 'मुश्ते नमूनः अज खरवारे', अर्थात् 'ढेर में से एक मुट्ठी नमूना।' ठीक यही मुहावरा हमारे लेखक ने प्रयोग किया है हिन्दी वाले 'राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द' लिखते हैं किन्तु हमारे लेखक ने "राजा शिवप्रसाद साहब सितारये हिन्द" लिखकर "सितारे" को "सितारये" से शोध दिया है जो उर्दू का ही लेखक कर सकता था। एक स्थान पर आता है, "ईश्वर की शरण"[4] जो स्पष्ट ही "खुदा की पनाह" का भाषान्तर है। आगे "हमारी योग्य सभा" (वही) "प्रतिष्ठित सभा"[5] "हे मेरी प्रिय सभा" (वहीं) "हे मेरी अन्वेषिणी सभा !" (वहीं), "हमारी श्रेष्ठ मस्तिष्क सभा"[6], "हमारी विदुषी सभा"[7], "हमारी प्यारी सभा"[8], "हे मेरी प्रतिष्ठित सभा !"[9] "ऐसा जो पवित्र तेजोमय बकौल तुम्हारे भीतर विद्यमान है"[10], "हूर और गिलमान् (मोतियों के रंग वाले लड़के)"[11]

इसके अतिरिक्त उक्त लेख का लेखक कुर्आन का भी अच्छा ज्ञान रखता प्रतीत होता है। "पितृ" की व्याख्या करते हुए लिखा है– "पितृ वह हैं जो "इल्मुल्यकीन" (देखे बिना ही किसी वस्तु की वास्तविकता पर पूर्ण विश्वास कर लेना) और "ऐनुल्यकीन" (किसी वस्तु को देखने के पश्चात् उसकी वास्तविकता को पूर्ण विश्वास के साथ भलीभाँति जानना) की अवस्थाओं में से गुजर कर "हक्कुल् यकीन" (किसी वस्तु में प्रविष्ठ हो जाना या स्वयं वह वस्तु बन जाना या उसमें खो जाना) का पद प्राप्त करते हैं।"[12] वस्तुतः कुर्आन की इन तीनों अवधारणाओं की इतनी सुस्पष्ट व्याख्या और इतने कम शब्दों में दुर्लभ है।

---

2. पृ. 869
3. पृ. 869-870
4. पृ. 872
5. पृ. 873
6. पृ. 880
7. पृ. 881
8. पृ. 882
9. पृ. 887
10. पृ. 894
11. पृ. 897
12. पृ. 891

इन बातों पर विचार करने के बाद हमारा ध्यान केवल एक व्यक्ति की ओर जाता है, जिसकी लेखनी से ही इतना प्रौढ़ सुन्दर और कुर्आन-प्रमाण से पुष्ट लेख सम्भव था। वह व्यक्ति मुंशी इन्द्रमणि मुरादावादी के अतिरिक्त कोई और नहीं हो सकता, जो उर्दू, अरबी, फारसी के साथ-साथ संस्कृत के भी उच्चकोटि के विद्वान् थे।

यह घटना सन् 1881 ई० की है और मुंशी इन्द्रमणि का स्वामी जी से मतभेद सन् 1883 में हुआ था।[13] अतः उस समय मुंशी इन्द्रमणि की गणना स्वामी जी के भक्तों में थी। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी को अतिव्यस्त पाकर मुंशी इन्द्रमणि ने आर्य सन्मार्ग–सन्दर्शिनी सभा के पण्डितों को उत्तर देने का कार्यभार अपने ऊपर ले लिया। उक्त लेख पढने से ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि वह स्वामी जी को दिखाकर छापा गया है। श्री राम सुब्रह्मण्य शास्त्री ने एक ब्राह्मण-वचन का हवाला देकर मूर्तिपूजा प्रसिद्ध करने की चेष्टा की है, जो इस प्रकार है–

"स परन्दिवमन्वावर्तते अथ यदास्यायुक्तानि प्रवर्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति गायन्तीत्यादि।"

इसके उत्तर में उक्त लेख में कहा गया है, "हमको ज्ञात नहीं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इसका क्या अर्थ करते हैं।" यदि उक्त लेख स्वामी जी का होता तो ऐसा कभी न लिखते। दूसरी बात यह है कि स्वामी दयानन्द के काशी शास्त्रार्थ में इस प्रकरण का अपनी तत्कालीन दृष्टि से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उक्त लेख के लेखक स्वामी जी तो हैं ही नहीं, वह स्वामी जी का लिखवाया हुआ भी नहीं है, और न उनके द्वारा अनुमोदित ही है।

उक्त विचार-सरणि का सम्मिलित निष्कर्ष यह है कि उक्त लेख के लेखक मुंशी इन्द्रमणि ही हो सकते हैं, दूसरा और कोई नहीं।

---

13. वे 29 मई 1883 को आर्यतभाग मुरादाबाद के प्रधान पद से मुक्त किये गये हैं।